अध्याय 1

उत्तर-आधुनिक विमर्श

अनुवाद में संप्रेषण की समस्या का अध्ययन विशेष रूप से संस्कृति, साहित्य और भाषा के संदर्भ में करने से पूर्व इन तीनों संदर्भों के विकास-क्रम से परिचित होना आवश्यक है। समय के साथ भारतीय संस्कृति में नये-नये आयाम जुड़ते चले गए हैं। इसने व्यापक स्तर पर संस्कृति को प्रभावित किया और परिवर्तित भी। साथ ही विश्व की संस्कृतियों को परस्पर और अधिक निकट लाने का काम भूमंडलीकरण ने किया है। अप्रवासियों की सुविधा और अधिकारों का संरक्षण करने वाले देश बहु-संस्कृति के वाहक बने हैं। साथ ही बाज़ारवाद और लोकप्रिय संस्कृति (पोप्युलर कल्चर) साहित्य और अनुवाद को गहरे स्तर पर प्रभावित कर रहे हैं। दूसरी तरफ उत्तर-आधुनिकता के प्रभाव से साहित्यिक आलोचना का स्थान विमर्शगत अध्ययन ने ले लिया है। साहित्य अब सिद्धांत से अधिक अनेक अंतीय विमर्शों में देखा-परखा जा रहा है। साहित्य में परिधीय समुदाय अपने लिए निश्चित स्पेस निर्मित कर रहा है। वहीं उत्तर-आधुनिक समय में साहित्य के मूल्यांकन में भाषा और लेखन का महत्व प्रतिपादित किया जा चुका है। पाठक को पाठ के अर्थ का निर्णायक घोषित करते हुए पाठ में दबे हुए या स्थगित किए गए अर्थ या विमर्शों की तलाश की जा रही है। इनसे अनुवाद गहरे स्तर पर प्रभावित हुआ है। अतः अनुवाद में इनकी भूमिका समझने के लिए यहाँ इनका सम्यक अध्ययन किया जा रहा है।

1.1 संस्कृति : बहु-संस्कृति

संस्कृति मानव समाज द्वारा संचित नित-नवीन अनुभवों की उत्तरोत्तर संवर्धित

पूँजी है। मनुष्य समाज में जन्म लेता है, समाज और उसकी परंपरा से सीखता है और पर्याप्त अनुभव प्राप्त करने के पश्चात् उस समाज के मूल्यों, मान्यताओं, कला, चिंतन में यथाशक्ति योगदान देकर अपनी सांस्कृतिक धरोहर में अभिवृद्धि करता है। शनैः शनैः संस्कृति का क्रमशः विकास होता है, वह संवर्धित होती है। इस प्रकार मनुष्य विरासत में प्राप्त संस्कृति का उत्कर्ष और परिष्कार करता है। चूंकि संस्कृति मनुष्य द्वारा पीढ़ी–दर–पीढ़ी किए गए प्रयत्नों की अर्जित पूँजी है, अतः प्रत्येक समाज की संस्कृति में एक समान स्तर मिलना संभव नहीं हैं। एक से दूसरे समाज में गति करने पर सांस्कृतिक भिन्नता के विविध स्तर सहज ही देखें जा सकते हैं। इस प्रकार बनी विविध संस्कृतियों से जुड़े मानव विशिष्ट कारणों से एक दूसरे के संपर्क में आते हैं और अपनी सांस्कृतिक पहचान को सुरक्षित रखते हुए दूसरी संस्कृति की विशिष्टताओं को अपनाते हैं, तब बहु-संस्कृति का मार्ग प्रशस्त होता है।

1.1.1 संस्कृति

संस्कृति व्यक्ति के विचारों को बल प्रदान करती है, जीवन की जटिल अवस्थाओं में मार्गदर्शक का काम करती है। व्यक्ति जिस सांस्कृतिक परंपरा में जन्म पाकर विकसित होता है, उसी के प्रतीकों के द्वारा अपने आप को संप्रेषित करता है। वह प्रतीक ही है जिसके माध्यम से व्यक्ति वस्तुओं, विचारों और अभिव्यक्तिओं पर अपने अर्थ और मूल्यों को आरोपित करता है, स्वयं को संप्रेषित करता है। इस प्रकार संस्कृति ही वह तत्व है जो हमारी चेतना, हमारे विचार को समृद्ध, सुंदर, विवेकशील और सर्जनशील बनाती है। भौतिक स्तर पर जीवन निर्वाह में उपयोगी ज्ञान एवं क्रिया-कलापों में खोए मनुष्य को इस स्थूल धरातल से ऊपर उठाने में संस्कृति की महत्वपूर्ण भूमिका है।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'संस्कृति' शब्द संस्कृत की 'कृ' धातु से बना है। 'सम्' उपसर्ग के साथ इ+कृ+ञ् के योग से 'संस्कृति' शब्द बना है, जिसका अर्थ है

'परिमार्जित अथवा परिष्कृत करना'। हिन्दी में 'संस्कृति' शब्द, अंग्रेजी के 'कल्चर' शब्द के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होता है, जो cultivate शब्द से व्युत्पन्न है। (विमलेश कान्ति वर्मा और मालती पृ. 389) इस प्रकार 'संस्कृति' शब्द में संस्कार का भाव है जो व्यक्ति को समाज, उसके परिवेश से प्राप्त होता है और इसी संस्कार के बल पर परिष्कृत हुए लोगों से समाज बनता है जो आगे चलकर उसी समाज की संस्कृति की अस्मिता का कारण बनता है।

1.1.1.1 संस्कृति और सभ्यता

'संस्कृति' से समान अर्थ रखने वाला शब्द है 'सभ्यता'। इसके बीच के अंतर को दर्शाने वाली अंग्रेजी की प्रसिद्ध कहावत है - सभ्यता वह चीज है जो हमारे पास है, संस्कृति वह गुण है जो हममें व्याप्त है। सुख-सुविधा व आवागमन के साधन, पोशाक, खान-पान और ऐसी ही सारी भौतिक वस्तु सभ्यता के उपकरण हैं, जो हमारे पास हैं, जबकि इन उपकरणों के निर्माण में रुचि लेना और पोशाक पहनने का तरीका एवं भोजन आदि जिस कला से किया जाता है, वह संस्कृति से संबद्ध है।

सभ्यता से जुड़ी सामग्री को अल्प समय-सीमा में प्राप्त किया जा सकता है, किंतु इन सब के उपयोग में जो रुचि, ज्ञान, कला आदि सांस्कृतिक तत्व कार्यरत रहते हैं वह कई वर्षों के संचित अनुभवों की निधि से ही उपलब्ध हो सकते हैं।

संस्कृति और सभ्यता दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं और दोनों का विकास साथ-साथ होता है। उदाहरण के रूप में भवन के स्थूल रूप का निर्माण सभ्यता से जुड़ा है जबकि उसका आकार, मानचित्र पसंद करने की रुचि हमारी संस्कृति की परिचायक है।

संस्कृति सभ्यता की अपेक्षा महीन चीज है। यह सभ्यता के भीतर उसी तरह व्याप्त रहती है जैसे दूध में मक्खन या फूलों में सुगंध। और सभ्यता की अपेक्षा यह टिकाऊ भी अधिक है, क्योंकि सभ्यता की सामग्री टूट-फूटकर विनष्ट हो सकती है,

लेकिन संस्कृति का विनाश उतनी आसानी से नहीं किया जा सकता। (दिनकर पृ. 12)

संस्कृति और सभ्यता के बीच की भेदक रेखा को सुलझाते हुए डॉ. देवराज ने संस्कृति को इस प्रकार परिभाषित किया है, "सभ्यता से तात्पर्य उन आविष्कारों, उत्पादन के साधनों एवं सामाजिक-राजनीतिक संस्थाओं से समझना चाहिए जिनके द्वारा मनुष्य की जीवन-यात्रा सरल होती है एवं स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त होता है। इसके विपरीत संस्कृति का अर्थ चिंतन तथा कलात्मक सर्जन की वे क्रियाएँ समझना चाहिए, जो मानव व्यक्तित्व और जीवन के लिए साक्षात् उपयोगी न होते हुए उसे समृद्ध बनाती हैं। इस दृष्टि से हम विभिन्न शास्त्रों, दर्शन आदि में होने वाले चिंतन, साहित्य, चित्रांकन आदि कलाओं एवं परहित साधन आदि नैतिक आदर्शों तथा व्यापारों को संस्कृति की संज्ञा देंगे।" (देवराज पृ. 389)

मनुष्य के भीतर संस्कार रूप में पड़े इन्हीं बीजों के प्रस्फुटन से मनुष्य अन्य प्राणी जगत से उच्च स्थान पर बिराजमान है। इसी से हमारा व्यक्तित्व भी रोचक और आकर्षक बनता है। एक लेखक द्वारा प्रभावशाली सृजन करने के लिए सांस्कृतिक बोध का ज्ञान होना अनिवार्य है, क्योंकि इसके अभाव में लेखक एक सशक्त रचना देने में चूक जाता है। व्यक्ति की जीवन दृष्टि प्रायः ऐतिहासिक और दार्शनिक बोध से नियमित और नियंत्रित होती है। मनुष्य को एक धरातल से ऊपर उठाने में उस बोध का आधारभूत योगदान रहता है। इन्हीं दृष्टि में संस्कृति के प्रमुख तत्व - सौंदर्य-बोध, नीति-बोध और आध्यात्मिक-बोध समाविष्ट हैं। संस्कृति के इन तत्वों से गहन रूप से संपृक्त रचना ही पाठकों को एक उत्तम कृति का आस्वादन करा सकती हैं। इस प्रकार संस्कृति एक दृष्टि है जो गहन अध्ययन और चिंतन के परिपाक स्वरूप रचनाकार के व्यक्तित्व को निखार सकती है। साहित्य सृजन में संस्कृति की इस महत्वपूर्ण पीठिका का समर्थन करते हुए डॉ. देवराज ने 'साहित्य समीक्षा और संस्कृतिबोध' में संस्कृति को एक प्रतिमान के रूप में प्रस्तावित करते

हुए अनिवार्य माना है, "प्रतिमान के रूप में संस्कृति को मैं उतना ही महत्व देता हूँ, जितना क्लासिकी विचारक, काव्य के प्राण तत्व के रूप में रस को देते हैं।" (पृ. 85)

संस्कृति एक व्यापक शब्द है। उसके अंतर्गत मनुष्य का आचरण, उसका भाव-जगत, विचारधारा, साहित्य, कला, विज्ञान आदि सभी का समावेश हो जाता है। वाल्मीकि और व्यास के महाकाव्य, अजन्ता और एलोरा का शिल्प, स्थापत्य और चित्रकारी, त्यागराज और तानसेन का संगीत ये सब संस्कृति के अंग है। ... अपने सुदीर्घ जीवन में मनुष्य ने ऐसी सांस्कृतिक निधि अर्जित की है जो मानव मात्र की संपत्ति है। बच्चों से प्यार, नारी जाति का सम्मान, मनुष्य मात्र की समानता का भाव आदि संपूर्ण मानव संस्कृति की थापी है। (ड. र. शर्मा पृ. 252)

साहित्य में सांस्कृतिक पक्ष का अध्ययन करते समय ध्यान प्रायः दो पहलू पर केन्द्रित होता है – एक संस्कृति का बाह्य पक्ष, जिसमें समाज के रीति-रिवाज, कला-नृत्य, मेले-उत्सव आदि का समावेश होता है तथा दूसरा वैचारिक पक्ष जो कथ्य की आत्मा के रूप में कृति को जीवंतता प्रदान करता है। भारतीय सांस्कृतिक परंपरा में मेला-उत्सव, कला-कौशल की प्रतियोगिताएँ, शौर्य-प्रदर्शन आदि जनता के बीच प्रचलित रहे हैं। व्यस्त जीवन में मनोरंजन के लिए एवं प्रजा में समूह भावना के विकास हेतु ऐसे आयोजन किए जाते रहे हैं। ऐसे आयोजनों से एक तरफ व्यवस्था अपने विशेष कार्यों को लोकतांत्रिक रीत से जनता के समक्ष प्रस्तुत करती रही है वहीं दूसरी तरफ इसमें जनता की सहभागिता के भी दर्शन होते हैं।

संस्कृति की प्रगति आदान-प्रदान की प्रक्रिया से होती है। दो देशों के बीच मित्रता का भाव दोनों देशों की सांस्कृतिक निधि में अभिवृद्धि करता है। कोई भी समुदाय या जाति अपने आस-पास के समुदाय या जाति की संस्कृति से प्रभावित हुए बिना नहीं रहती। यह आदान-प्रदान ही संस्कृति को जीवन प्रदान करता है। ऐसे संपर्क से ही विभिन्न संस्कृतियों के बीच से एक नई धारा फूट निकलती है जो उनको अपने

में समाहित करती हुई बहती चलती है। भूमंडलीकरण के समय में व्यापार-वाणिज्य के कारण प्रायः सभी देश परस्पर व्यवहार करते हुए एक-दूसरे की संस्कृति से प्रभावित हुए हैं।

1.1.2 बहु-संस्कृति

बहु-संस्कृति से तात्पर्य है - दो या अधिक ऐसी संस्कृतियाँ जो साथ-साथ होते हुए भी अपना अलग अस्तित्व, अपनी पृथक पहचान बनाए रखती हैं। बहु-संस्कृति शब्द दो शब्दों के योग से बना है, 'बहु' अर्थात् - एक से ज्यादा और 'संस्कृति'। इस प्रकार बहु-संस्कृति में दो अथवा दो से अधिक भिन्न संस्कृति के लोगों के बीच घनिष्ठ परिचय होता है, वे अपनी संस्कृति से परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं और उनके बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान भी होता है फिर भी यह सामाजिक एकता या आत्मसात्करण से विपरीत अपनी विशिष्टता बनाये रखती है। बहु-संस्कृति व्यक्ति को अपना अस्तित्व बनाये रखते हुए समाज में स्वतंत्र रूप से अभिव्यक्त होने का अवसर देती है।

बहु-संस्कृतिवाद समूह की पहचान का समर्थक है। इस पहचान के पारंपरिक उपकरण धर्म, समाज, उसकी मान्यताएँ हैं जबकि आज राजनीतिक, व्यावसायिक, लैंगिक, भाषाई, सामाजिक संबंध, साहित्यिक या अन्य आधार पर समूह को पहचाना जा रहा है। आधुनिक काल में विविध आधारों पर वैयक्तिक पहचान पर बल दिया गया है। जबकि उत्तर-आधुनिक समय में उक्त सारे आधार व्यक्ति को सामुदायिक पहचान दे रहे हैं।

नॉबल पारितोषिक प्राप्त अमर्त्य सेन बहु-संस्कृति को दो, एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न दृष्टि से देखते हैं। एक वह जो विविधता को स्वयं एक मूल्य मानकर उसे बनाए रखने की बात करती है, तथा दूसरी तर्क करने तथा निर्णय लेने की स्वतंत्रता की पक्षधर है और सांस्कृतिक विविधता को उसी सीमा तक स्वीकार करती है जहाँ

तक व्यक्ति उसका चयन करना चाहता है। (सेन पृ. 16)

1.1.2.1 बहु-संस्कृतिवाद

बहु-संस्कृतिवाद भिन्न-भिन्न संस्कृतियों से युक्त समुदाय से संबंधित है। मोटे तौर पर इस शब्द का प्रयोग दो तरीकों से किया जाता है - वर्णनात्मक और मानकीकृत। एक, वर्णनात्मक शब्द के रूप में, यह आमतौर पर सांस्कृतिक विविधता के साधारण तथ्य को संदर्भित करता है। दूसरे, मानक शब्द के रूप में, यह विचारधारा को संदर्भित करता है, जो लोगों को ढंग से अपनी पहचान व्यक्त करने की स्पेस देता है। (बहुसंस्कृतिवाद)

बहु-संस्कृतिवाद का संबंध राजनीतिक नीतियों से है। सन् 1970 के आस-पास पाश्चात्य देशों ने बहु-संस्कृति को शासकीय नीति के तहत स्वीकार किया। यद्यपि अलग-अलग राष्ट्रों में इसे स्वीकृति देने के कारण भिन्न-भिन्न रहे हैं। अमेरिका, अफ्रीका और एशिया जैसे महाद्वीपों में सांस्कृतिक वैविध्य है, यह वैविध्य बहु-संस्कृतिवाद से बहुत निकट है, पश्चिमी 'बहु-संस्कृतिवाद' की नीतियों से भी समानता रखता है। लेकिन इन देशों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भिन्न है और उनकी नीतियों का उद्देश्य भी भिन्न है। इनमें से कई देशों में सांप्रदायिकता का मुद्दा चरम राजनीतिक मुद्दा है। वस्तुतः ऐसे देशों का लक्ष्य एक संस्कृति या एक जातीय राष्ट्र का निर्माण करना है।

विश्व स्तर पर बहु-संस्कृति के प्रमुख तीन स्वरूप दृष्टिगत होते हैं - अमेरिका, भारत और कनाडा। अमेरिका की खोज के बाद लोगों का आप्रवासन आर्थिक प्रयोजन से हुआ था। अमेरिका में दिखाई देने वाले बहुसांस्कृतिक लक्षण का आधार आर्थिक है। वहाँ के लोगों ने मिलकर बहु-संस्कृति का वर्तमान रूप बनाया है। जबकि भारत में विभिन्न कारणों से अलग-अलग समय पर भिन्न-भिन्न धर्म-संस्कृति के लोगों का आगमन हुआ और बाद में वे लोग यहाँ बस भी गए। इस प्रकार भारत में दृष्टिगत

बहुसांस्कृतिक लक्षण का आधार ऐतिहासिक है। भारत में रहने वाले लोगों से अपने आप बहु-संस्कृति का वर्तमान रूप निर्मित हुआ है। आजादी के बाद भारत ने संवैधानिक तौर पर कुछ महत्वपूर्ण प्रावधान किए जिससे भारत में बहुसांस्कृतिक तत्वों को और भी बल मिला है। जबकि कनाडा में अपने देश के विकास के लिए राजनीतिक स्तर पर नीतियाँ बनाकर ऐसी सुविधाएँ प्रदान की गयी जिससे अन्य देश के नागरिक वहाँ आकर बसे। इस प्रकार कनाडा की बहु-संस्कृति का आधार राजनीतिक है। कनाडा में लोगों को बुलाया गया है और फिर वहाँ पर बहु-संस्कृति को बनाया गया है।

यहाँ बहु-संस्कृतिवाद का विकास और विश्व के महत्वपूर्ण देशों में उसके स्वरूप का अध्ययन किया जा रहा है :

1.1.2.1.1 कनाडा और ऑस्ट्रेलिया में बहु-संस्कृतिवाद

कनाडा की भौगोलिक स्थिति मानव निवास के लिए कष्टकर है। साल के अधिकांश दिन बर्फ-आच्छादित रहने से तापमान बहुत नीचा रहता है और गर्मियों के समय में 25^0 से 30^0 से. तक पहुँच जाता है। अतः कनाडा ने रोलट आयोग की अनुसंशाओं को ध्यान में रखते हुए सन् 1971 में अपनी राष्ट्रीय नीतियों में आधिकारिक रूप से बहु-संस्कृतिवाद को स्वीकृति दी। इसके स्वाभाविक परिणाम स्वरूप अनेक विदेशी कनाडा में जा बसे। राजनीतिक संरक्षण के कारण कनाडा का समाज अत्यंत प्रगतिशील, विविधता भरा और बहुसांस्कृतिक बनकर उभर आया है।

कनाडा की तरह ऑस्ट्रेलिया में भी भौगोलिक सुविधाएँ कम है। यह अपनी विशिष्ट स्थिति के कारण अन्य महाद्वीप से कुछ अलग-थलग पड़ जाता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् 'व्हाइट ऑस्ट्रेलिया नीति' के तहत ऑस्ट्रेलियाई आव्रजन पर रोक लगा दी गयी थी और यह सन् 1972 तक प्रभावी रहने से राजनीतिक रूप से बहु-संस्कृतिवाद को सरकारी नीति नहीं बनाया जा सका। अतः ऑस्ट्रेलिया के विकास के

लिए वहाँ की सरकार ने सन् 1973 में कनाडा की कई नीतियों को अपनाते हुए प्रायः उसी शैली के बहु-संस्कृतिवाद को स्वीकृत किया और यही कारण है कि ऑस्ट्रेलिया में पचास प्रतिशत से अधिक लोग विदेश से आ बसे हैं।

1.1.2.1.2 संयुक्त राज्य अमेरिका और यूरोप में बहु-संस्कृतिवाद

पिछले कुछ वर्षों से अमेरिका और पश्चिमी यूरोप की सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक नीति-निर्माण प्रक्रिया में बहु-संस्कृतिवाद की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। यहाँ बहु-संस्कृतिवाद का आरंभ उपयोगितावादी आंदोलन के अंतर्गत 19वीं शताब्दी के अंत में हुआ। इसके बाद 20वीं शताब्दी में यह परिवर्तित होते हुए राजनीतिक और सांस्कृतिक बहुलतावाद का रूप धारण करता है। सांस्कृतिक बहुलतावाद की यह अवधारणा बहु-संस्कृतिवाद का उत्स समझी जाती है।

संयुक्त राज्य अमेरिका में बहु-संस्कृतिवाद के स्वीकार के कारण राजनीतिक नहीं है, न उनकी संघीय स्तर की नीतियों में यह स्पष्ट रूप से स्थापित किया गया है। अमेरिका महाद्वीप की खोज के बाद विदेशी प्रजा वहाँ गयी और बस गयी। 19वीं शताब्दी के प्रारंभिक समय में यह आप्रवासन आर्थिक एवं सामाजिक उद्देश्यों से निरंतर चलता आ रहा है। किंतु आप्रवासियों के रूप में यहाँ आने वाले अमेरिकी समाज की विशेषताओं का अंग बनते हुए एक सूत्र में बंधते गए। जन्ग्विल ने इसे 'द मेल्टिंग पॉट' - 1908 में अमेरिका के राष्ट्रीय मिथक की एक प्रमुख विशेषता मानते हुए 'मेल्टिंग पॉट' का रूपक प्रस्तुत किया और बताया कि सभी अप्रवासी संस्कृतियाँ राज्य के हस्तक्षेप के बिना मिश्रित और एकीकृत हुई है। (बहुसंस्कृतिवाद)

कनाडा और ऑस्ट्रेलिया में बहु-संस्कृतिवाद को आधिकारिक नीति के रूप में स्वीकृति मिली उसके पश्चात् अधिकांश यूरोपीय देशों ने बहु-संस्कृतिवाद को आधिकारिक नीति के रूप में अपना लिया। ब्रिटन में 1970 और 1980 के दशक के बाद उसे प्रशासनिक मान्यता दी गई। ब्रिटिश प्रशासन ने 'रेस रिलेशन ऐक्ट' और

1948 के 'ब्रिटिश नैशनैलिटी ऐक्ट' के द्वारा इसे राष्ट्रीय नीति में वैधानिक रूप से शामिल कर लिया है। लंदन तथा लिवरपूल में सन् 1981 में हुए जातीय दंगों के बाद वहाँ जातीय एकता लाने के प्रयास जोर-शोर से होने लगे हैं।

ब्रिटन में आ बसे लोगों में प्रायः उन्हीं देश के लोग है जो कभी ब्रिटन उपनिवेश थे। इन्हें अब 'कॉमनवेल्थ' की संज्ञा दी गई है। कॉमनवेल्थ के अप्रवासियों के लिए कुछ सुविधाएँ ब्रिटिश नीति में ही सुनिश्चित कर दी गई है। जैसे कि, ब्रिटन की सीमा में प्रवेश करते ही मत देने का अधिकार, फिर चाहे उसे वहाँ की नागरिकता न भी मिली हो। साथ ही एक ब्रिटिश नागरिक को मिलने वाली रक्षा, स्वास्थ्य, शिक्षा, सामाजिक सुरक्षा आदि की सुविधा भी उपलब्ध करवाई जाती है। इतना ही नहीं अप्रवासियों के लिए उपलब्ध विविध संस्कृतियों के साहित्य, संगीत, नृत्य-कला, संस्कृति विशेष के खान-पान और ज्ञान तथा मनोरंजन के लिए प्रस्तुत की जा रही साधन-सामग्री सांस्कृतिक विविधता को ही प्रोत्साहित करती है।

1.1.2.1.3 एशिया महाद्वीप में बहु-संस्कृतिवाद

एशिया महाद्वीप में बहु-संस्कृतिवाद की दृष्टि से भारत और जापान को महत्वपूर्ण माना जाता है।

जापान अपनी एकरूपता की विचारधारा के चलते सभी परंपरागत जातीय मतभेदों का अस्वीकार करता है। यहाँ तक कि एइनु (Ainu) के रूप में जातीय अल्पसंख्यकों द्वारा ऐसे दावों को ही रद्द कर दिया गया। जापान का प्रसिद्ध पूर्व मंत्री तारो असो जापान को 'एक जाति' का देश घोषित करता है। हालांकि, पूरे जापान भर में स्थानीय सरकार द्वारा वित्त पोषित "अंतर्राष्ट्रीय सोसायटी" एनपीओ है। (बहुसंस्कृतिवाद)

भारत प्राचीन काल से अनेक जातियों के आगमन का देश बना हुआ है। मुख्यतः व्यापारिक फिर ज्ञान-प्राप्ति और कुछ हद तक धर्म-प्रचार के कारणों से भारत

में आये विदेशी भारत में ही बसते गए और अपने साथ ले आए सांस्कृतिक वैविध्य से भारतीय संस्कृति को समृद्ध करते गए। यूँ वर्तमान भारत धर्म, जाति, भाषा, वर्ण आदि की दृष्टि से वैविध्यपूर्ण है। इसके साथ देश के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में नृत्य, संगीत, वास्तुकला आदि में भी वैविध्य है। बावजूद इसके भारत में समानता है। इस विविधता के मेल से बनी भारतीय संस्कृति में एकता है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश को गणतंत्र घोषित किया गया, देश का नया संविधान अस्तित्व में आया। देश के संविधान ने जनता को मौलिक अधिकार प्रदान करते हुए समानता, स्वतंत्रता, शोषण से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया। किसी भी नागरिक के साथ जाति, लिंग, धर्म, भाषा, वर्ण के आधार पर किसी भी तरह का भेदभाव न हो यह सुनिश्चित किया। प्रत्येक नागरिक को अपनी मान्यताओं, धार्मिक आस्थाओं और जातिगत पहचान को सुरक्षित रखते हुए जीवन यापन करने की स्वतंत्रता प्रदान की गई। इस प्रकार भारत में बहु-संस्कृतिवाद के लक्षण मौजूद हैं और वह भी संविधान द्वारा प्रदत्त हैं। किंतु यह अधिकार गणतंत्र राष्ट्र होने के नाते जीवन जीने की स्वतंत्रता से जुड़े हैं, जबकि पश्चिमी बहु-संस्कृतिवाद के उदय का संबंध मूलतः आयोजनबद्ध राजनीतिक कारणों से है जो राष्ट्र के विकास के लिए लोगों को विशिष्ट प्रकार की नीतिगत सुविधाएँ उपलब्ध करता है।

1.1.3 भारत में उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण का उदय

भारत में सन् 1991 के बाद नई आर्थिक नीति अपनाई गई। यह नीति अपनी पूर्ववर्ती आर्थिक नीति से बिलकुल अलग है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद प्रमुखतः देश को शक्तिशाली औद्योगिक ढाँचे के निर्माण और खाद्यान्न उत्पादन में आत्मनिर्भर बनाने के लिए सन् 1951 से पंच-वर्षीय योजनाओं का सूत्रपात हुआ। इस क्षेत्र में देश की आर्थिक नीति को सफलता मिली। किंतु आर्थिक विकास की लक्ष्य-सिद्धि हेतु सरकार की जिस अहम भूमिका को महत्वपूर्ण माना गया था वह अनेक सरकारी नियंत्रणों के

परिणाम स्वरूप आर्थिक विकास में शिथिलता का कारण बनी। वित्त के सभी साधनों पर सरकार का एक मात्र अधिकार था। सन् 1990 तक आते-आते एक तरफ औद्योगिक ढाँचा अकुशल साबित होकर प्रतिस्पर्धा से पिछड़ गया वहीं दूसरी तरफ कृषि की पैदावार कम होती गई। आयात की मात्रा बढ़ती जा रही थी पर निर्यात की मात्रा बढ़ाई नहीं जा सकी। इसका स्वाभाविक परिणाम बेरोजगारी, गरीबी, मुद्रास्फीति आदि समस्याओं के रूप में सामने आया। सरकार द्वारा किया जा रहा निवेश क्रमशः कम होता गया, सरकार ने अपने व्यय के वित्तपोषण के लिए नोटों को छापना शुरू किया, व्यापार-घाटा बढ़ता गया और आर्थिक विकास के लिए आवश्यक विदेशी मुद्रा-भंडार और विदेशी पूँजी का व्यापक स्तर पर अभाव होता गया। देश ने इस आंतरिक और बाह्य आर्थिक संकट से उबरने के लिए नई आर्थिक नीति लागू की।

1.1.3.1 नई आर्थिक नीति

नयी आर्थिक नीति में अर्थव्यवस्था की दर को बढ़ाने के लिए व्यापक प्रयत्न किए गए। इनमें उत्पादन इकाइयों की कार्यदक्षता में सुधार, उत्पादन क्षमता में सुधार, प्रतिस्पर्धात्मक क्षमता में अभिवृद्धि और वैश्विक स्तर के संसाधनों का प्रयोग करते हुए आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने पर बल दिया गया।

नयी आर्थिक नीति का संबंध तीन महत्वपूर्ण अवधारणाओं से हैं। इन्हें ही नव-उदारवाद का आधार माना जाता है।

1.1.3.1.1 उदारीकरण (Liberalisation)

1.1.3.1.2 निजीकरण (Privatization)

1.1.3.1.3 भूमंडलीकरण (Globalization)

1.1.3.1.1 उदारीकरण (Liberalisation)

उदारीकरण का तात्पर्य आर्थिक उदारीकरण से है। इस व्यवस्था में सभी व्यक्तियों को अपनी आवश्यकता अनुसार निजी आर्थिक निर्णय लेने की स्वतंत्रता

होती है। इसमें निजी उपक्रम एवं पूँजी पर लगे नियंत्रण हटाकर व्यापक मात्रा में निवेश के अवसर प्रदान किए जाते हैं। उत्पादों के आवागमन की रुकावटों को दूर कर सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं, आयात-निर्यात की रुकावटों को दूर किया जाता हैं। उत्पाद का मूल्य निर्धारण उत्पादक ही तय करता है और उत्पाद के वितरण और बिक्री से संबंधित निर्णय भी स्वतंत्र रूप से लेता है। सरकार कर दरों में कमी करने जैसे प्रोत्साहक उपाय करती है।

इस प्रकार उदारीकरण की व्यवस्था में बाज़ार माँग-आपूर्ति की शक्तियों से संचालित होता है। इसमें सरकार की भूमिका क्रमशः कम होती जाती है। बाज़ार-उन्मुख अर्थव्यवस्था के विकास को बल मिलता है। बिना किसी रुकावट से देश में विदेशी निवेश किया जा सकता है।

1.1.3.1.2 निजीकरण (Privatization)

निजीकरण की प्रक्रिया उदारीकरण से जुड़ी हुई है। निजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके परिणाम स्वरूप आर्थिक प्रणाली में निजी उपक्रम एवं पूँजी की भूमिका बढ़ती जाती है और समान अनुपात में सरकार की भूमिका कम होती जाती है।

निजीकरण का प्रमुख उद्देश्य निजी-स्वामित्व वाले संसाधनों का उपयोग करते हुए देश की अर्थव्यवस्था को विकास प्रदान करना है। निजी उपक्रम आर्थिक लाभ प्राप्त करने हेतु स्थापित किए जाते हैं अतः इसमें अपने संसाधनों को आर्थिक दृष्टि से उचित रूप से उपयोग में लाया जाता है, संसाधनों का अपव्यय रोककर यथासंभव लाभ प्राप्त किया जाता है। इससे देश की अर्थव्यवस्था में कुशलता आती है, उत्पादकता के स्तर में सुधार आता है। परिणामतः निजीकरण को बढ़ावा देने के लिए सरकार विराष्ट्रीयकरण (Denationalization), विनिवेश (Disinvestment), निजी निवेश को बढ़ने के अवसर देना तथा सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के विस्तार पर रोक लगाने जैसी नीतियों को लागू करती है।

निजी पूँजी-निवेशक आर्थिक और राजनीतिक रूप से अधिक प्रभावशाली बनकर उभर आते हैं। इसके साथ ही उनके समुदाय या जाति की संस्कृति का विस्तार होता है। देश के अलग-अलग भू-भागों पर विभिन्न क्षेत्रों में निवेशक अपनी सांस्कृतिक और सामुदायिक पहचान भी स्थापित करते जाते हैं। विदेशी निवेश पर लगे नियंत्रण हटा लिये जाने पर विदेशी निवेशक अपने साथ न केवल पूँजी बल्कि अपनी रुचि, अपना ज्ञान, अपनी संस्कृति भी साथ लाते हैं, जिसका प्रभाव स्पष्ट रूप से उनके उत्पादों पर दिखाई देता है। भारतीय जनमानस का पश्चिमीकरण इसी का उदाहरण प्रस्तुत करता है।

1.1.3.1.3 भूमंडलीकरण (Globalization)

विश्व की विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं में एकीकरण की बढ़ती हुई प्रवृत्ति भूमंडलीकरण है। हिन्दी का 'भूमंडलीकरण' शब्द अंग्रेजी के 'ग्लोबलाइजेशन' (globalization) शब्द का अनुवाद है। इसके लिए 'वैश्वीकरण' (एवं वैश्विकीकरण) शब्द का भी प्रयोग मिलता है। भूमंडलीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा विश्व के विभिन्न देशों में आपसी आदान-प्रदान की मात्रा बढ़ जाती है। इनकी आर्थिक दूरियाँ कम हो जाती हैं और वस्तु, सेवा, पूँजी व टेक्नोलॉजी के आवागमन पर लगे सभी प्रकार के नियंत्रण हटा लिये जाते हैं।

सुपरिचित लेखक-आलोचक डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल भूमंडलीकरण के अंतर्गत नव-उदारवाद, नव-साम्राज्यवाद, नव-पूँजीवाद का वर्चस्व स्वीकार करते हुए भूमंडलीकरण की अवधारणा को चार अलग-अलग अर्थ संदर्भों में व्याख्यायित करते हैं। (पालीवाल, भूमंडलीकरण पृ. 201)

आधुनिक भूमंडलीकरण का पहला, सीधा और प्रधान अर्थ है - विश्व का अर्थ तंत्र और विश्व बाज़ार व्यवस्था का निर्माण, जिसमें प्रत्येक देश, प्रत्येक अर्थव्यवस्था को हर हालत में प्रगति और विकास के लिए जुड़ना ही पड़ेगा।

भूमंडलीकरण का दूसरा अर्थ-संदर्भ विश्व राजनीति से नाभि-नाल जुड़ा हुआ है। विश्व भर की राजनीति को इसी अर्थ तंत्र और बाज़ार की जरूरतों के आधार पर से संचालित-नियंत्रित करना।

भूमंडलीकरण का तीसरा तात्पर्य है - कंप्यूटर, इंटरनेट और मीडिया क्रांति के जरिये संसार के समुदायों, राष्ट्रों, संस्कृतियों और व्यक्तियों के बीच उभरते तनावों, संघर्षों, दूरियों, मतभेदों, विरोधों, द्वंद्वों को निरंतर कम-से-कम करने का प्रयत्न करना।

भूमंडलीकरण का चौथा अर्थ है - उपग्रहीय टेलीविजन की ताकत से एक ग्लोबल कल्चर या भूमंडलीय संस्कृति को जन्म देना। अमेरिकी संस्कृति को हर कीमत पर स्थापित करना, उसे बढ़ावा देना और तर्कों-संस्थानों के द्वारा उसकी विशेषताओं को रेखांकित करना।

इस प्रकार कृष्णदत्त पालीवाल भूमंडलीकरण का संबंध आर्थिक, राजनीतिक, वैचारिक, तकनीकी और सांस्कृतिक से मानते हैं।

1.1.3.1.3.1 वसुधैव कुटुंबकम और भूमंडलीकरण

प्राचीन काल से भारतीय संस्कृति 'वसुधैव कुटुंबकम' का अनुसरण करने पर बल देती आ रही है। इसमें मानवीयता को चरम लक्ष्य मानते हुए उदार विचारों को जीवन का अभिन्न अंग माना जाता है। यह मनुष्य जाति के प्रति आत्मीयता रखने वाली एक उदात्त अवधारणा है।

भूमंडलीकरण का संबंध पूँजीवादी विचारधारा वाले देशों से है। वैश्वीकरण संज्ञा से 'वसुधैव कुटुंबकम' का छल-बोध कराने वाला भूमंडलीकरण, बाज़ारवाद से जुड़ा है। यह तीसरी दुनिया के सांस्कृतिक वैविध्य पर ग्रहण लगाते हुए उनकी अस्मिता को नष्ट करता है, वहीं दूसरी तरफ पूँजीपति देशों की आर्थिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक सक्षमता को संसार में कायम करता है।

भूमंडलीकरण से कुछ लाभ होते हैं। जैसे उत्पादक अपने उत्पाद को विश्व के किसी भी स्थान पर बेच सकता है। उसे विश्व स्तरीय व्यापक बाज़ार का लाभ मिलता है। उत्पाद की पहुँच विश्व-बाज़ार तक हो जाने से स्पर्धा बढ़ती है। उत्पाद अधिक गुणवत्तायुक्त और किफायती दाम पर उपलब्ध होने लगते हैं और उपभोक्ता व्यापक स्तर के उत्पादों में से अपनी पसंद का उत्पाद किफ़ायती दाम में खरीद सकता है।

व्यापारिक-वाणिज्यिक संबंधों के साथ-साथ अन्य राष्ट्रों से राजनीतिक संबंधों का विकास होता है। राष्ट्रों की परस्पर आर्थिक निर्भरता उनकी राजनीति को पर्याप्त प्रभावित करती है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की अवहेलना करते हुए विकसित नहीं हो सकता।

बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ जब किसी देश में अपना उत्पाद अथवा सेवाएँ लेकर प्रवेश करती है तब वह केवल उत्पाद तक ही सीमित नहीं रहती, क्योंकि उसके पीछे एक विचार, एक सोच कार्यरत रहती है। बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ जिस वैचारिक धरातल पर निर्मित की गई है, वह विचारधारा भी उस देश में प्रवेश करती है। देश के समाज और संस्कृति को बराबर प्रभावित करती है।

भूमंडलीकरण ने विदेशी निवेश के द्वार खोल दिये हैं। विश्व की बड़ी कंपनियों ने न केवल भारतीय बाज़ार में प्रवेश किया वरन् अपने पूँजी बल से भारतीय बाज़ार को व्यापक रूप से प्रभावित करते हुए अपना आधिपत्य भी कायम किया है। आज पूँजी-बाज़ार पर इस प्रकार के बहुराष्ट्रीय संस्थानों और कंपनियों का प्रभुत्व हो चुका है। इतना ही नहीं विदेशी निवेश के अचानक बहिर्गमन से देश की अर्थव्यवस्था डांवांडोल होने के उदाहरण देश के सामने आ चुके हैं।

भारतीय अर्थव्यवस्था का महत्वपूर्ण हिस्सा बन चुकी बहुराष्ट्रीय कंपनियों का एक मात्र उद्देश्य है - लाभ प्राप्त करना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ये कंपनियाँ जनहित को परिधि पर छोड़ देती हैं। ऐसी कंपनियों का न तो जन-हित से कोई लेना-

देना है न राष्ट्र-हित से। लाभ प्राप्ति के लिए ऐसी कंपनियाँ नैतिक-अनैतिक मार्ग अपनाकर अनेक प्रकार के विज्ञापन करती है। विज्ञापन के पीछे हजारों डॉलर खर्च करके बहुराष्ट्रीय कंपनियों के मैनेजर लुभावने, कामुक, अंग-प्रदर्शन करने वाले, आक्रामक विज्ञापन करते हैं और उपभोगवादी संस्कृति को बनाये रखते हैं।

विज्ञापनों को उपभोक्ता तक ले जाने में मीडिया की महत्वपूर्ण भूमिका है। उपग्रह क्रांति ने मीडिया को मल्टी-मीडिया में तबदील कर दिया है। विज्ञापन विभिन्न रूप में बहु माध्यमों के द्वारा उत्पादों की जानकारी न केवल लोगों तक पहुँचाते हैं बल्कि उनके मानस को गहराई से प्रभावित भी करते हैं। अब तक मीडिया का काम कम्युनिकेशन करता था, यह उत्तर-आधुनिक समय में स्वयं स्वतंत्र उत्पाद का क्षेत्र बन गया है। सन् 1990 के आसपास भारत में कम्युनिकेशन उद्योग का भूमंडलीकरण होने लगा जिससे बाज़ार की गतिविधियों का वैश्विक परिप्रेक्ष्य में बदलाव हुआ।

इस प्रकार भूमंडलीकरण ने विश्व को सिर्फ आर्थिक ही नहीं, राजनीतिक, सामाजिक, वैचारिक, सांस्कृतिक, तकनीकी, मीडिया, व्यावहारिक आदि सभी पहलुओं से गहरे स्तर पर प्रभावित किया है। साहित्य का संबंध इन सभी पहलुओं से है। अतः इस परिवर्तन से साहित्य भी प्रभावित हुआ है।

1.1.4 बाज़ारवाद की पृष्ठभूमि और बहु-संस्कृति

बाज़ार की संकल्पना कोई नई संकल्पना नहीं है। मानव सभ्यता के उदय के साथ ही बाज़ार का जन्म हुआ था। विश्व की विशालता और विविधता से परिचित कराने का काम बाज़ार अपने तरीके से करता आया है और इसे सूक्ष्म बनाने का काम बाज़ारवाद कर रहा है। अर्थशास्त्र में 'बाज़ारवाद' जैसा कोई शब्द नहीं है। विश्व के किसी भी प्रामाणिक कोश को लिया जाये, 'बाज़ारवाद' शब्द नहीं मिलेगा। पालग्रेव के विश्वकोश में भी 'मार्केटिज्म' शब्द नहीं है। (ज. चतुर्वेदी, बाज़ारवाद)

बाज़ारवाद बाज़ार की ही तार्किक परिणति है। बाज़ार का सबसे पुराना रूप 'फेरी' (बार्टर पद्धति) है। फेरी शब्द से तात्पर्य है वस्तु-विनिमय; कुछ लेने के बदले में कुछ देना अर्थात् लेन-देन की प्रक्रिया। कई बार दूधवाला माप से ऊपर थोड़ा अधिक दूध डालता था अथवा सब्ज़ीवाला सब्जी के साथ हरी धनिया-मिर्च आदि मुफ्त देता था, ठीक इसी प्रकार की प्रवृत्ति अपने परिवर्तित रूप में आज के बाज़ार में दिखाई पड़ती है, अलबत्ता 'बाज़ारीय' चालाकी के साथ। आज वस्तु के स्थान पर विनिमय का माध्यम मुद्रा बन चुकी है; ऐसे में वर्तमान बाज़ार में होम डिलीवरी को 'फेरी' के ही आधुनिक स्वरूप के रूप में देखा जा सकता है; वहीं बाज़ार में दिखाई पड़ने वाले विविध 'सेल' हों, जिसमें कभी कुछ 'मुफ्त' या कुछ 'अधिक' या फिर 'एक्चेन्ज ऑफर' के माध्यम से ग्राहक को लाभ देने की बात हो, वह एक तरह से पुरानी 'घलुआ पद्धति' का ही 'उत्तर-आधुनिक'[1] स्वरूप है। कहने का तात्पर्य है कि किसी वस्तु की आवश्यकता होने पर आप बाज़ार में जाते हैं जबकि बाज़ारवादी दौर में आप बाज़ार तक नहीं जाते बल्कि उत्पाद आपका पीछा करता है। जैसे ही आप कंप्यूटर, मोबाइल आदि के द्वारा इंटरनेट से जुड़ते हैं वैसे ही कई सारे उत्पाद-विज्ञापन आप तक पहुँच जाते हैं। यहाँ तक की आप ईमेल या अन्य खातों में प्रवेश करते हैं वहाँ आपके 'पर्सनल' स्थान पर भी उत्पाद-विज्ञापन के माध्यम से बाज़ार आप तक पहुँच जाता है। फ्लिपकार्ट, स्नैपडील आदि इसका नवीनतम रूप है जहाँ ग्राहक को बाज़ार तक बिना गए सस्ते में अपनी मन-पसंद वस्तु खरीदने का अवसर मिलता है। यों कहा जा सकता हैं कि बाज़ार 'वर्चुअल' हो गया है। यह सूचना-प्रौद्योगिकी के प्रभाव के फलस्वरूप हुआ है। बाज़ार, विज्ञापन तथा अन्य तरीकों से लोगों की अभिरुचि, फैशन, मनोवृत्तियों आदि को प्रभावित करता है और अंततः इससे प्रभावित होकर

---

[1] 'जड़ों तक जाने की बात' को इस तरह देख सकते हैं कि यह बाज़ार की जड़ों (परंपरा) तक जाने की बात है।

ग्राहक उत्पाद खरीदता है।

बाज़ार में बिक्री के लिए हर प्रकार के हथकंडे भी अपनाये जाते हैं। धोखाधड़ी भी की जा रही हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है की मुनाफा और निजी हित ही बाज़ारवाद में सर्वोपरि हो गया है। पूँजीवादी दौर में व्यक्ति जितने मूल्य का माल लेकर बाज़ार में आता था उतने ही मूल्य का माल लेकर वापस जाता था। उत्तर पूँजीवाद में स्थिति बदल गई है। यहाँ सेठ जितनी बड़ी थैली लेकर प्रवेश करता है, सारी प्रक्रिया समाप्त होने के बाद उससे बड़ी थैली लेकर वापस जाता है। (ग. मिश्र पृ. 131)

पूँजीवाद ने अपने बाज़ार का विस्तार किया। वह अधिक से अधिक और सामान्य से अति सामान्य व्यक्ति तक पहुँचा। व्यक्ति के जीवन में आवश्यक और अपेक्षित छोटी से छोटी चीज वस्तु जैसे माचिस की डिबिया, लिखने की निब, सेफ्टीपिन, कागज, पेन्सिल, स्लेट आदि की पूर्ति कर सके ऐसी चीज-वस्तु बनाना तथा उसके जरिये लोगों तक पहुँचना ही पूँजीवादी दौर में बाज़ार का विस्तार करना था।

उत्तर पूँजीवाद ने लगभग इससे विपरीत रास्ता अपनाया। इसने अपने बाज़ार के व्याप संकुचन कर दिया। बाज़ार अधिक क्रय-शक्ति रखने वाले छोटे से वर्ग तक अपने बाज़ार को समेट लिया और उन्हीं के बीच उपभोक्ता तक दूसरों से पहले पहुँचाने की होड़ लगी हुई है। इस होड़ के कारण उत्पादन से अधिक महत्व मार्केटिंग का हो गया है क्योंकि माल के स्तर पर लगभग सभी एक जैसे हैं और एक जैसी चीजें माँग के अनुपात में अधिक मात्रा में उत्पादित करते हैं। वितरण व्यवस्था का स्थान प्रबंधन ने ले लिया है। आयकर चोरी का तरीका निकालने वाला एक नया पेशा इसकी ही देन है, जिसे चार्टर्ड अकाउंटेंट कहते हैं। बाज़ारवाद में नमक, मसाला, दाल, तेल, सब्जी, फल-फूल जैसी चीज-वस्तु में सर्जन की जगह तो नहीं है किंतु वितरण

की एक आजमाई हुई पद्धति को नष्ट करके बेरोजगारी का विस्तार करने का प्रबंध कर लिया गया है। (भ. सिंह पृ. 66-67) इसका उदाहरण यह है कि जो सामान पहले नुक्कड़ की दुकान पर मिल जाता था उसे खरीदने लोग मॉल में जाते हैं। इस प्रकार पूँजीवाद का स्वरूप बदलता जा रहा है। वह एक शोषक सामाजिक व्यवस्था नहीं रह गई - इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर पूँजीवाद के बदले 'बाज़ार प्रणाली' (हमारे यहाँ बाज़ारवाद) कहने पर जोर दिया जा रहा है जिससे आम लोगों के बीच यह भ्रम पैदा हो कि यह नई व्यवस्था है जिसका पूँजीवाद से कोई लेना-देना नहीं है।[14] (ज. चतुर्वेदी, बाज़ारवाद) लेकिन बाज़ारवाद एक नई व्यवस्था न होकर पूँजीवाद के बाद की अवस्था उत्तर-पूँजीवाद की संतान है।

बाज़ारवाद के आर्थिक पक्ष के साथ सांस्कृतिक पक्ष भी उभरकर आता है। इसमें बाज़ार की गिरावट के साथ संस्कृति का रूप भी बदलता है। आज संस्कृति महज एक उपभोग की वस्तु बनकर रह गई है और उपभोग की प्रक्रिया से ही बाज़ार में बिक रही चीज-वस्तुओं की गिरावट या मुनाफे को आँका जाता है। अगर उत्तर पूँजीवादी अर्थव्यवस्था बाज़ारवाद का आधार बनती है तो उसी के अनुकूल, उसी से जुड़ी संस्कृति का आना भी आवश्यक है। बाज़ारवाद से जुड़ी बहु-संस्कृति को प्रभावित होने से रोका नहीं जा सकता। बाज़ारवाद बहु-संस्कृति को जिन कारणों से प्रभावित करता है वह इस प्रकार है :

उत्तर-आधुनिक समय में धर्म (जो सांस्कृतिक धरोहर माना जाता है) को बेचा जा रहा है। ईश्वर प्राप्ति की पद्धति हर धर्म में अलग हो सकती है किंतु ईश्वर की भूमिका सभी धर्मों में एक जैसी ही है। ईश्वर को प्राप्त करने के लिए, मोक्ष प्राप्त करने के लिए, ईश्वर से व्यक्तिगत संबंध बनाने के लिए रामायण, महाभारत, श्रीमद् भगवद् गीता, श्रीमद् भागवत कथा आदि का प्रवचन किया जाता था, लेकिन प्रवचनकर्ताओं ने इसे धनराशि जमा करने का एक स्रोत बना लिया है। 'स्वांतः सुखाय'

और 'बहुजन हिताय' से भिन्न 'बहुजन उपभोगाय' माल बना दिया है। वेद, उपनिषद, पुराण या बाइबिल, कुरान जैसे धार्मिक ग्रंथों की जब रचना की गई थी तब बाज़ार के लिए उसे नहीं रचा गया था। उसे तो मनुष्य के भीतर आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक जैसे संस्कारों का बीजारोपण करने के लिए लिखा गया था। लेकिन आज इस धार्मिक ग्रंथों को भी बाज़ार में सुपर सेल पर जगह-जगह सजाकर रखा गया है। इस तरह धर्म और ईश्वर का पवित्र विचार भी बाज़ार के बीच खड़ा कर दिया गया है। जिस बाज़ार से बचने के लिए ईश्वर ने व्यवस्था की है उसी बाज़ार में मनुष्य ने फिर उसे डाल दिया है तो फिर मोक्ष की प्राप्ति कैसे होगी? (पचौरी, पोप्युलर कल्चर के विमर्श पृ. 197)

दूसरी तरफ कार्ल मार्क्स ने कभी धर्म को अफ़ीम कहा था। उसने धर्म को मनुष्य की पीड़ा का आर्तनाद भी कहा था। वह अफ़ीम अब सुपर सेल में है और आर्तनाद भव्य-दिव्य रिकार्ड कीर्तन, भजन रीमिक्स गीत बन चला है, जिसमें फिल्मी धुनो पर सब नाच-गान करते हैं। (वहीं, 197) जैसे - "दम मारो दम, मिट जाये ग़म। बोलो सुबह शाम, हरे कृष्ण हरे राम" या फिर "तेरी आँखें भूल-भूलैया, तेरी बातें भूल-भूलैया। हरे राम हरे राम, हरे कृष्ण हरे राम।" या कहिए "कुडियों का नशा प्यारे, नशा सबसे नशीला है। इश्क के नाम पर करते सभी अब रास-लीला है, मैं करूँ तो साला केरेक्टर ढीला है।" यही नहीं भगवान की तस्वीर बनाई हुई टी-शर्ट, ॐ, श्री जैसे पवित्र शब्दों वाली टी-शर्ट, कुर्ती भी बाज़ार में बेची जाती है। भगवान के नाम पर, धर्म के नाम पर सब कुछ बेचा जा रहा है। अब धार्मिक संस्कृति एक उद्योग बन चुका है। उस पर बाज़ारवाद हावी होता जा रहा है।

बाज़ार तथा धार्मिक संस्कृति के बीच इंग्लैंण्ड के वाल्तेयर (ज. चतुर्वेदी, बाज़ारवाद) घनिष्ठ संबंध स्थापित करते है। उनके मतानुसार बाज़ार के विकास और विस्तार के दायरे में विभिन्न धर्मों और समुदायों के लोग आते हैं उससे जुड़ते भी हैं।

विभिन्न धर्मों और समुदायों के लोग आपस में रिश्ता भी बनाते हैं जिससे आपसी विश्वास कायम होता हैं, जो कारोबार के लिए जरूरी हैं। यदि धर्म, राष्ट्रीयता, भाषा, रहन-सहन को लेकर लोगों के बीच भेद-भाव अविश्वास हो तो बाज़ार बिखर जाता है। एक उदाहरण के द्वारा इस बात को समझाते हुए लिखते हैं कि विश्व के किसी भी बंदरगाह को देख लीजिए। विभिन्न धर्मों, समुदायों, विभिन्न भाषा-भाषी व्यक्ति वहाँ जुड़े हुए होंगे। वहाँ पर एक ही चीज मायने रखती है और वह है - परस्पर विश्वास, प्रेम और शांति का वातावरण।

वाल्तेयर के अनुसार बंदरगाह ही नहीं बल्कि शेयर बाज़ार भी धार्मिक सहनशीलता और कारोबारियों के बीच सौहार्द्र को बढ़ावा देता है। लंदन रॉयल एक्सचेंज की बात करते हुए कहा कि वह अनेक राज दरबारों से अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि वहाँ विभिन्न राष्ट्रों और धर्मों के लोग कारोबार करते हुए मिलते हैं जिससे मानवता का भला होता है। इस प्रकार बाज़ारवाद लोगों को प्रेरित करता है कि वे धर्म, संप्रदाय, राष्ट्र आदि के भेदभाव से ऊपर उठें और अपने समान उद्देश्य आधिकारिक संपदा बटोरने के लिए जुटें। (ज. चतुर्वेदी, बाज़ारवाद) किंतु इसके साथ ही यह प्रश्न उठता है कि क्या धार्मिक सहिष्णुता के लिए बाज़ार से जुड़ना पड़ेगा? क्या अब धार्मिक, राष्ट्रीय या सांस्कृतिक मूल्यों को बाज़ार तय करेगा? संभवतः नहीं। क्योंकि बाज़ार का समर्थन करने से परंपरा से चले आ रहे मानवीय, सामाजिक तथा राष्ट्रीय मूल्य का कोई स्थान नहीं रह जायेगा। अतः राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक मूल्यों को बाज़ार के भरोसे पर कतई नहीं छोड़ा जा सकता।

संस्कृति को बाज़ार तक लाने में क्रेता और विक्रेता दोनों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। व्यक्ति वस्तुओं का उपभोग करता है, लेकिन बाज़ारवादी युग में व्यक्ति खुद उपभोग की वस्तु बन गया है। अर्थात् व्यक्ति को पता ही नहीं चलता है कि वह बाज़ारवाद का शिकार होता जा रहा है। टी. वी. के सामने बैठा दर्शक कभी सोच भी

नहीं सकता कि वह विज्ञापन दाता कंपनियों का कितना बड़ा शिकार हो रहा है और प्रयोजकों के हाथों बेचा जा रहा है। वह मज़ा ले नहीं रहा बल्कि मज़ेदार बनता जा रहा है, साबुन-सा लजीज, फ्रीज-सा ठंडा, जूते-सा पहने जाने योग्य और नई कार-सा चमकदार! वह नई-नई, रंग-बिरंगी और आकर्षक चीजों का सिर्फ उपभोग ही नहीं कर रहा होता, खुद भी वस्तु में बदलकर कन्फ्युज किया जा रहा है। उसका हर उपभोग आत्मछल है, वह वस्तुतः आत्मछल का आनंद ही खरीदता है, बाज़ार का हर माल उसे रिक्त करता है। उसकी उपभोग पिपासा उसे अधिकाधिक उपभोग्य और प्रतिरोध शून्य बना देती है। (शंभुनाथ पृ. 160-161) इस प्रकार विज्ञापन और संचार माध्यम ने इस पिपासा को और भी बढ़ा दिया है। विज्ञापन करने वाली कंपनियों के अधीन बाज़ारवाद ने हमारी संस्कृति में अनेक व्यामोह पैदा कर दिये हैं, जिससे मनुष्य मनुष्य नहीं बल्कि 'कन्ज्युमर' बन गया है।

बाज़ारवाद ने न केवल धर्म और समाज को प्रभावित किया है बल्कि राष्ट्र को भी अपने शिकंजे में ले लिया है। राष्ट्रीय संस्कृति अब केवल सांस्कृतिक राष्ट्रवाद बनकर रह गया है। 'अशोक', 'मौर्या', 'ताज', 'इंडिपेंडेंस' आदि नामों से फाइव स्टार हॉटलें बनायी जाती है। 'वंदे मातरम्' तथा 'जन-गण-मन' की आधुनिक धुन बनायी जाती है।

कुल मिलाकर बाज़ारवाद का दायरा बढ़ता जा रहा है। बाज़ारवाद के केन्द्र में सिर्फ बिज़नेस और मुनाफ़ा ही है। इसके सामने रीति-नीति, नेह-नाते किसी भी प्रकार की कोई भी संस्कृति कुछ मायने नहीं रखती। इस तरह एक महाजनी सभ्यता जिसके बारे में प्रेमचंद ने बहुत पहले ही लिख दिया था कि, "इस महाजनी सभ्यता ने दुनिया में जो नई नीतियाँ चलाई हैं उनमें सबसे अधिक घातक और रक्त-पिपासु यही व्यवस्था वाला सिद्धांत है। मियाँ-बीवी में बिज़नेस, बाप-बेटे में बिज़नेस, गुरु शिष्य में बिज़नेस। सब मानवीय, आध्यात्मिक और सामाजिक नेह-नाते समाप्त। आदमी-आदमी

के बीच लगाव है तो बस बिज़नेस का। (प्रेमचंद पृ. 61)

1.1.5 परिधीय समाजों का साहित्य में नए रूप में प्रवेश

उत्तर-आधुनिकता सार्वभौमिक सत्यों को नकारती है। इसमें समग्रतावादी और केन्द्रवादिता का अस्वीकार किया गया है। यह हर क्षेत्र के केन्द्रवाद को नकारते हुए परिधीय स्थित को महत्व देती है। सभी प्रकार के केन्द्रवाद को तोड़ते हुए हाशिए पर खड़े लोगों के समुदाय को मुख्य धारा में लाने का मार्ग दिखाती है और उत्तर-आधुनिक युग में हाशिए पर खड़े लोग अपने-अपने समुदाय बनाकर अपनी पहचान स्थापित कर रहे हैं। विश्व स्तर पर अस्तित्व में आये स्त्री, दलित, समलैंगिक, आदिवासी, ब्लैक आदि ऐसे ही परिधीय समाज या समुदाय है जो आज सत्ता-केन्द्र को तोड़ते हुए अपनी पहचान स्थापित कर रहे हैं।

1.1.5.1 समुदाय और जनता में अंतर

समुदाय को जनसमूह भी कहा जाता है। समुदाय अपने अलग-अलग मुद्दों को लेकर बनते हैं। भारत में जनसमूह की प्रवृत्ति सन् 1960 के बाद उभरी है। 'जनसमूह' 'जनता' से भिन्न होते हैं। "उत्तर-आधुनिकतावाद" में जगदीश्वर चतुर्वेदी (पृ. 9-10) इस अंतर को स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि 'जनता' में आत्मत्याग उदारता, सामाजिक अपनापन, भावात्मक एकता एवं बृहत लक्ष्यों की प्राप्ति की आकांक्षा होती हैं; न्यूनतम सामाजिक-राजनीतिक मानदंडों को बनाये रखने की इच्छा शक्ति होती है। संस्थानों की अपनी स्वच्छ पहचान होती हैं। पुराने सामूहिक और सामुदायिक जीवन मूल्यों को संरक्षित करने का आग्रह होता है। ईमानदारी का सार्वजनिक महत्व एवं सम्मान करना 'जनता' की खूबी होती है। इसके विपरीत जनसमूह के पास संकुचित दृष्टिकोण और स्थानीय हित ही प्रमुख होते हैं। राष्ट्र और राज्य की चिंता उसके 'विज़न' में आती ही नहीं। परिणामतः संकुचित दायरे एवं छोटे समूहों की समस्याएँ उग्र हो उठती हैं। इसका स्वाभाविक परिणाम भारत में दबाव की

राजनीति के रूप में देखा जा सकता है।

भारत में परिधीय समाज का साहित्य में प्रवेश होने पर प्रमुखतः दो विमर्श (1) स्त्री विमर्श और (2) दलित विमर्श अस्तित्व में आए। इनके द्वारा रचा गया साहित्य कथ्य और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से अपने पूर्ववर्ती साहित्य से भिन्न अभिव्यक्तियाँ लेकर उपस्थित हुआ। परिधीय समाज के साहित्य में प्रवेश करने से किस प्रकार की नई अभिव्यक्तियाँ साहित्य में प्रस्तुत हुई और इसका अनुवाद करते समय कौन-सी समस्याएँ उपस्थित होती है उसका सम्यक अध्ययन यहाँ किया जा रहा है।

1.1.5.2 साहित्य में स्त्री समाज

स्त्री अस्मिता को लेकर पश्चिमी देशों में अलग-अलग समय पर नारीवादी समर्थकों ने आंदोलन किए हैं। स्त्री अस्मिता से जुड़े सभी प्रश्नों के मूल में है लिंग (gender), अवस्त्रीपरकता (misogyny) और पितृसत्तात्मकता (patriarchy)। डोबोरा एल मेडसन ('शीतांशु' से उद्धृत, पृ. 214) इन्हें विश्लेषित करते हुए कहते हैं कि स्त्री-वाद इन सब का विरोध करता है। लिंग का संबंध जैविक तत्ववाद से है जो यौन से भिन्न है और पुरुष वर्चस्व का आधार है। अवस्त्रीपरकता नारी-घृणा के व्यवस्थित व्यवहार को, नारी के संस्थानीकृत अधिकरण को और नारी के सभी प्रकार के नारी विरोधी व्यवहारों को उद्घाटित करने वाली है। पितृसत्तात्मकता पुरुषों को अधिमान देने वाली सांस्कृतिक व्यवस्था और पुरुषों के हाथ ताकत सौंपने वाली राजनीतिक व्यवस्था को उजागर करती है, जो स्त्री की कीमत पर पुरुषों के हितों की रक्षा करती है।

स्त्री की शारीरिक संरचना जटिल है और इसका लाभ उठाते हुए पुरुष ने सदैव उस पर अधिकार करना चाहा है। कृष्णदत्त पालीवाल के शब्दों में पुरुष अधिनायकवादी साम्राज्यवादी पितृसत्तात्मकता ने स्त्री को अपना उपनिवेश बनाया है। इस उपनिवेश से मुक्ति पाने के लिए, अपनी अस्मिता स्थापित करने के लिए पाश्चात्य देशों की स्त्रिओं ने अनेक संघर्ष किए। इन संघर्षों ने उन्हें संवैधानिक

समानता तो उपलब्ध करवाई किंतु विभिन्न मुद्दों पर पितृसत्ता से मुक्त होने का संघर्ष आज भी जारी है।

साहित्य में स्त्री-विमर्श का अध्ययन करने के लिए स्त्री समानता को लेकर पश्चिम में किए गए आंदोलनों को संक्षेप में देखना अनुचित न होगा क्योंकि स्त्री से जुड़े ऐसे ही प्रश्नों को साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्ति मिली है। स्त्री अधिकारों के लिए पश्चिम में किए गए आंदोलनों को नारीवादी आंदोलन की प्रथम लहर और द्वितीय लहर में विभक्त किया जाता है।

नारीवादी आंदोलन की प्रथम लहर 19वीं शताब्दी से लेकर 20वीं शताब्दी के छठे दशक तक चलती है। सन् 1848 में फ्रांस ने पुरुषों को सर्वप्रथम सार्वभौमिक मताधिकार प्रदान किया। सन् 1889 में जर्मनी, स्वीट्जरलैण्ड और न्यूजीलैंड ने पुरुषों को मताधिकार दिया। किंतु सन् 1900 तक न्यूजीलैंड के अलावा अन्यत्र स्त्रियों को मताधिकार नहीं दिया गया था।

स्त्री समानता को लेकर सबसे पहला आंदोलन फ्रांस में सन् 1789 में हुआ। लंबे संघर्ष के बाद यहाँ सन् 1944 में स्त्री को मताधिकार दिया गया। इंग्लैंड की उच्च वर्गीय स्त्रियों ने सन् 1842 में मताधिकार प्राप्त करने हेतु 'हाउस ऑफ कॉमन्स' में प्रतिवेदन दिया। इंग्लैंड में कुछ संगठनों ने हिंसक रास्ता अपनाकर उग्र आंदोलन भी किए और अंततः सन् 1927 में मताधिकार प्राप्त किया। अमेरिका में नारीवादी आंदोलनकारियों को सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और वैचारिक संगठनों का सामना करना पड़ा। मताधिकार के साथ-साथ लिंग तटस्थ तलाक कानून, यौन-संबंध में पति को मना करने का अधिकार, आर्थिक अवसरों में वृद्धि, विवाह संस्थानों का अधिकार जैसे मुद्दों को भी उठाया गया। इतना ही नहीं राजनीतिक हिस्सेदारी की माँग भी होने लगी। अमेरिका में सन् 1920 में स्त्री को मताधिकार प्रदान किया गया।

कुल मिलाकर प्रथम लहर का नारीवादी संघर्ष आरंभ में सामाजिक असमानता और दास प्रथा विरोधी था जो 20वीं शताब्दी तक आते-आते मताधिकार तक सीमित हो जाता है।

पश्चिम में नारीवादी आंदोलन की दूसरी लहर बीसवीं शताब्दी के छठे दशक में आती है। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान उद्योग व्यापार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाली स्त्रियों का युद्ध की समाप्ति पर उन्हें वापस अपने क्षेत्र में भेजने की प्रक्रिया का कड़ा विरोध हुआ। वहीं सन् 1961 में अमेरिकी राष्ट्रपति कैनेडी द्वारा नियुक्त आयोग की रिपोर्ट से स्त्री समानता की स्थिति पर अनेक प्रश्न उठे।

साहित्य के क्षेत्र में फ्रांस की सीमोन द बोउवार लिखित 'द सेकंड सेक्स' (1949) नारीवादी आंदोलन की दूसरी लहर का आधार बनी। **औरत पैदा नहीं होती, बल्कि बना दी जाती है** - यह कहते हुए उसने स्त्री दमन के मुद्दे को पुनः केन्द्र में ला खड़ा किया। स्त्री का दमन प्राकृतिक प्रक्रिया न होकर इतिहास और संस्कृति की उपज है। अमेरिका में बैट्टी फ्राइडन (Betty Friedan) ने सन् 1963 में 'दि फेमिनिन मिस्टीक' लिखकर स्त्री द्वारा केवल गृहिणी की भूमिका निभाने का विरोध किया। इस प्रकार सन् 1920 के बाद कमजोर पड़ गई स्त्री समानता आंदोलन की लहर दूसरी लहर के रूप में प्रबल होने लगी। समाज में व्याप्त हर प्रकार की असमानता, पितृसत्तात्मक व्यवस्था, शैक्षिक संस्थान और कार्यालय में दोयम दर्जे के भेदभाव का विरोध किया गया। समाजवादी, उदारवादी, उग्रवादी जैसे विचारधारात्मक मार्ग पर चले नारीवादी संगठन समाज और राजनीति में अपनी अस्मिता स्थापित करने के लिए संघर्ष करते रहे हैं।

कुल मिलाकर वर्जीनिया वुल्फ ने स्त्री लेखन के संकट को जहाँ 1929 में 'ए रूम ऑफ वन्स ऑन' में छोड़ा था, जिसे सिमोद द बुवा ने 'द सेकंड सेक्स' में सार्त्र के पुरुष केन्द्रित विमर्श के मुकाबले स्त्रीलिंग में केन्द्रित किया, जिसे 1979 में कोट

मिलेट ने 'सेक्सुअल पॉलिटिक्स' में लिंग आधारित राजनीति की व्याख्या करते हुए अंग्रेजी के कथा साहित्य में स्त्री की लिंग-शोषित छवि के रूप में पढ़ा, जिसे डोरोथी रिचर्डसन, शोजाना फिल्मैन, एलेन शूवाल्टर, तोरील मोय, टिली ओल्सन, डेल स्पैंसर, जूलिया क्रिस्टीयेवा, कोरा काप्लान, एनी लेक्लर्क आदि दर्जनों स्त्री मस्तिष्कों ने उत्तर संरचनावादी विचारों और पद्धतियों के जरिये उस स्त्री केन्द्र को समाजशास्त्रीय और दार्शनिक आयाम दिये और निर्विकल्प रूप में भाषा और संस्कृति में स्थापित किया। (पचौरी, उत्तर-आधुनिक साहित्यिक विमर्श पृ. 119-120)

भारत में स्त्री विमर्श पश्चिम की नकल भर होने के आरोप लगते रहे हैं। किंतु भूमंडलीकरण और खुली अर्थव्यवस्था के इस युग में जब अनेक प्रकार की सूचनाएँ बहु-माध्यमों के द्वारा घर-घर तक पहुँच रही है तब स्त्री विमर्श महज आयाती नकल भर न होकर भारतीय परिवेश के अनुकूल बन चुका है। देश के आर्थिक-सामाजिक विकास से स्त्री समाज की मुख्य धारा में आयी है, इतना ही नहीं विचार के केन्द्र में भी आयी है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर 'युनो' द्वारा 8 मार्च को महिला दिन घोषित करते हुए 1975 से महिला दशक मनाया गया । इसके साथ विश्व के कई देशों ने महिला संबंधित आयोग बनाये, उनके प्रश्नों को समझा और उनके विकास के लिए विभिन्न कार्यक्रम लागू किए। इतना ही नहीं देश के विकास में महिलाओं के योगदान को अनिवार्य माना गया। परिणामतः शिक्षा, पत्रकारिता, जन-संचार, व्यापार, तकनीकी आदि क्षेत्रों में महिलाएँ आगे बढ़ीं और अपनी क्षमता का परिचय दिया। इसी समय संयोगवश हिन्दी साहित्य में पहले से कुछ अलग तरह की महिला लेखिकाओं का आगमन हुआ। उत्तर औद्योगिक समय में अपनी महत्वपूर्ण उपस्थिति दर्ज कराने वाली महिला इस उत्तर-आधुनिक समय में उन सारे पुरुषवादी केन्द्रों को चुनौती देती है जो उसे हाशिए पर धकेले हुए थे।

हिन्दी साहित्य में स्त्री विमर्श की शुरूआत को लेकर विद्वानों में मतभेद है।

यद्यपि महादेवी वर्मा कृत 'शृंखला की कड़ियाँ' इस दृष्टि से सशक्त रचना मानी जाती है। किंतु चूंकि यह भारतीय नव-जागरण के समय की कृति है, अतः उसका महत्व एवं भूमिका भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन और स्त्री जागृति के संदर्भ में देखा जा सकता है। भारत में स्त्री विमर्श की शुरूआत छठे दशक से मानी जाती है। यद्यपि साहित्य के क्षेत्र में महिलाओं का योगदान वैदिक काल से होता रहा है। इतना ही नहीं पुरुष लेखकों ने नारी की स्थिति और उन पर हो रहे अत्याचारों को अपनी रचना में प्रस्तुत किया है। प्रेमचंद, निराला, जैनेन्द्र आदि का साहित्य इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। किंतु परिधीय समाज के रूप में स्त्री का साहित्य के क्षेत्र में आगमन अलग तरह से होता है। संसार को वह एक स्त्री की दृष्टि से देखती-समझती है और स्वानुभूत अनुभूतियों को स्त्री-भाषा में अभिव्यक्ति देती है। अब स्त्री से जुड़े उन मुद्दों को सामने लाया जा रहा है जिसे पितृसत्तात्मकता ने दबा रखा था, स्त्री को दोयम दर्जे का मानकर हाशिए पर छोड़ दिया था। अब तक कई महिला लेखिका साहित्य लेखन में सक्रिय हो चुकी है और अपनी अस्मिता से जुड़े प्रश्नों को अपनी रचनाओं के माध्यम से उठा रही हैं।

1.1.5.2 साहित्य में दलित समुदाय

भारत में सदियों से किसी न किसी रूप में उपेक्षित, शोषित और दमित होने वाला दूसरा सबसे बड़ा परिधीय समुदाय है दलितों का। वैदिक काल से ही पुरोहितवाद-ब्राह्मणवाद ने वर्ण-व्यवस्था के द्वारा न केवल इनकी उपेक्षा की वरन् अनेक प्रकार से इनका दलन भी किया है। इसका विरोध डॉ. भीमराव अंबेडकर ने किया। दलितों को सम्मान और समानता दिलाने के लिए उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर व्यापक आंदोलन चलाए। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अस्तित्व में आए भारतीय संविधान ने दलितों के उत्थान के लिए समानता का अधिकार प्रदान किया। संविधान प्रदत्त अधिकारों ने दलितों के साथ बिना भेद-भाव किए समानता

और न्याय पूर्ण जीवन-यापन का वैधानिक अधिकार तो दे दिया किंतु भारतीय समाज में उनकी स्थिति में कोई ज्यादा परिवर्तन नहीं आया। कदम-कदम पर सवर्णों द्वारा उपेक्षा और अपमान की वेदनामयी अनुभूति का दर्द झेलते हुए दलितों ने आंदोलन का मार्ग अपनाया। दलित मुक्ति के लिए चलाए गए आंदोलन का आधार बनी अंबेडकर और ज्योतिबा फुले की विचारधारा और इसी विचारधारा ने आगे चलकर सबसे पहले मराठी में दलित साहित्य की अवधारणा को जन्म दिया।

हिन्दी में दलित साहित्य लेखन की शुरूआत 1970 के दशक से होती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, कँवल भारती, डॉ. एन. सिंह, डॉ. धर्मवीर जैसे कई प्रभृति दलित साहित्यकार सामने आए जिन्होंने भारत में दलितों की स्थिति पर साहित्य के माध्यम से प्रकाश डाला। इन्होंने अपनी रचनाओं में दलितों द्वारा भोगे हुए यथार्थ की प्रामाणिक अभिव्यक्ति का दावा करते हुए उनकी विशेष स्थिति, उनकी विवशता, उन पर हुए अत्याचारों की सीधी प्रस्तुति की। संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकारों को सुनिश्चित करते हुए दलितों की आवश्यकताओं पर व्यापक बहस की।

दलित साहित्य अस्मिता का साहित्य है, पहचान का साहित्य है। यह दलितों द्वारा दलितों के जीवन पर लिखा गया साहित्य है। दलित साहित्यकार गैर-दलित द्वारा लिखे गए साहित्य को दलित साहित्य मानने के पक्ष में नहीं है। उनका मानना है कि गैर-दलित द्वारा लिखा गया साहित्य चेतना का साहित्य न होकर महज सहानुभूति या दया का साहित्य है। यद्यपि कुछ आलोचक दलित-नियति पर गैर-दलितों द्वारा लिखे गए साहित्य को भी दलित साहित्य मानते हैं।

दलित साहित्य के केन्द्र में मनुष्य है और वह सामाजिक समता का पक्षधर है। किंतु अपने अनुभव की ज़मीन पर प्रामाणिकता से साहित्य लेखन करने वाला दलित लेखक जब सामाजिक अन्याय, अत्याचार और अवमानना का दंश झेलते हुए सृजन करता है तो उसका स्वर क्रोध, नफरत, आक्रोश से भर उठता है। दलित साहित्य हिन्दू

धर्म पर आधारित परंपराओं, रूढ़ियों और विचारों से विद्रोह करता है। हाशिए पर रहने का दर्द, आत्म-पहचान, विद्रोह और आक्रोश की सीधी अभिव्यक्ति दलित साहित्य में देखी जा सकती है।

दलित साहित्य ऐसे मेहनतकश लोगों के संघर्ष को प्रस्तुत करता है जो भाग्य और भगवान को नहीं मानता। दलितों का प्रतिनिधित्व करने वाला कोई भी पात्र किसी भी परिस्थिति में मंदिर नहीं जाता न ही भाग्य पर भरोसा करता है बल्कि हथियार उठाकर उसका सामना करने में विश्वास रखता है।

दलित साहित्य भोगे हुए यथार्थ, वेदनामय अहसास का प्रामाणिक दस्तावेज है। इसका स्वर तीखा है। इसमें कथ्य की प्रस्तुति किसी आलंकारिक उपादानों की लाग-लपेट से गूँथकर नहीं आती, बल्कि कथ्य की सीधी-सीधी अभिव्यक्ति दलितों द्वारा प्रयुक्त दिन-प्रतिदिन की व्यावहारिक भाषा में ही की जाती है। कथ्य की अभिव्यक्ति में श्लील-अश्लील के प्रश्न में उलझे बिना प्रत्यक्ष किए गए अनुभवों की अपनी रचना में सीधी प्रस्तुति दलित साहित्य में दृष्टिगत होती है।

वस्तुतः परिधि पर रहे स्त्री और दलित समाज का साहित्य में प्रवेश होने से साहित्य एक तरफ दमन, अस्पृश्यता और विवशता से रूबरू होता है वहीं दूसरी तरफ हर तरह की उपेक्षा से त्रस्त होकर विद्रोह एवं आक्रोश के साथ जीवन के यथार्थ की अभिव्यक्ति, अश्लीलता की सीमा को लांघकर विविध प्रकार के विमर्श मुख्य धारा में प्रवेश करने लगे हैं। इस प्रकार की अभिव्यक्तियों से भरे पाठ का अनुवाद करते समय परिधीय समाज की सामाजिक-सांस्कृतिक विशिष्टताओं, उनके विशिष्ट पद-पदबंध के साथ भाषाई बुनावट में समतुल्यता का सर्जन करना अनुवादक के लिए एक बड़ी चुनौती बन जाता है।

1.2 साहित्य : सिद्धांत से विमर्श तक

साहित्य का सिद्धांत से संबंध प्राचीन काल से है। सिद्धांत के निर्माण की प्रक्रिया

लेखन के आरंभ के साथ-साथ चलती आ रही है। भारत की सबसे प्राचीन भाषा संस्कृत में लेखन-कार्य के प्रारंभ से ही उसे समझने के लिए टीका-टिप्पणी होती रही है और जिससे आगे चलकर विभिन्न सिद्धांतों का विकास हुआ। भारतीय काव्यशास्त्र के रस-सिद्धांत, ध्वनि-सिद्धांत आदि सिद्धांतों को इस दृष्टि से देखा जा सकता है। इन सिद्धांतों का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर भी दिखाई देता है। इतना ही नहीं समय-समय पर विभिन्न देश-काल में उत्पन्न सिद्धांतों से जुड़ी विचारधारा का साहित्य पर व्यापक प्रभाव दृष्टिगत होता है। हिन्दी की छायावादी कविता रोमेंटिसिज्म से प्रभावित रही है, प्रगतिवाद मार्क्सवादी विचारधारा से अनुप्राणित हुआ है, प्रयोगवाद और नई कविता अस्तित्ववादी चिंतन से उत्स पाती है।

साहित्यिक सिद्धांत और दर्शन का संबंध नाभी-नालबद्ध है। सिद्धांत दार्शनिक चिंतन की पृष्ठभूमि पर अवस्थित होते हैं अतः वे दार्शनिकता को प्रतिबिंबित करते हैं।

विमर्शगत अध्ययन का मार्ग एक तरह से मार्क्सवाद के बाद खुलता है। विमर्शगत अध्ययन वैचारिक खुलापन को महत्व देता है, यही वैचारिक खुलापन मार्क्सवाद में दिखाई देता है। दक्षिण पंथी विचारधारा में धर्म, धन और ईश्वर केन्द्र में है, जबकि मार्क्सवाद इसका विरोध करते हुए वैचारिक खुलापन का परिचय देता है। मार्क्सवाद दक्षिण पंथी विचारधारा के विपरीत खड़ा होता है। मार्क्सवादिओं को प्रायः इसी लिए वाम पंथी (लेफ्टिस्ट) कहा जाता है। अब यह प्रश्न खड़ा हो सकता है कि मार्क्सवाद के अलावा भी ईश्वर को न मानने वाली विचारधाराएँ हैं, जैसे अस्तित्ववाद। यह विचारधारा मूल में अराजकता से भरी हुई है, जो सिर्फ ईश्वर ही नहीं, बल्कि धर्म, संस्कृति, राजनीतिक-सामाजिक व्यवस्था आदि सब का विरोध करती है। इसके अल्पजीवी रहने का कारण भी यही है। मार्क्सवाद धर्म-ईश्वर का विरोध तो करता है लेकिन व्यवस्था को बदलने के लिए। सदियों से पीड़ित सर्वहारा वर्ग को उसका

अधिकार देने के लिए। इस प्रकार मार्क्सवाद वैचारिक खुलापन का परिचय देता है। फिर भी मार्क्सवाद एक सिद्धांत है और विमर्श उससे अलग है। विमर्शगत अध्ययन में स्पेस का महत्व है। अपनी जगह बदलने की बात है। विमर्श का जन्म ही अपने लिए निश्चित स्पेस बनाने की प्रक्रिया से होता है। अपने लिए स्पेस बनाने के लिए, अपनी पहचान स्थापित करने के लिए विमर्श पोलिटिकल टूल्स को उपयोग में लाता है।

विमर्श का संबंध राजनीति से है। एक लंबी अवधि तक वैश्विक स्तर पर परिधि पर स्थित जन-समूह विभिन्न अधिकारों से वंचित रहे हैं। समय-समय पर इन्होंने अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए जो संघर्ष किया उसका लंबा इतिहास है। इस संघर्ष का परिणाम लोकतंत्र की स्थापना के साथ देखा गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के कुछ समय बाद संसार के अधिकांश देशों में लोकतंत्र की स्थापना होने लगी। लोकतंत्र की इमारत मताधिकार की नींव पर खड़ी है। यहाँ 'मत' मूल्यवान है, जो विचार की ओर निर्देश करता है। जनता सोच-समझकर अपने विचार को एक निर्णय तक ले जाती है और अपना मत लोकतंत्र की स्थापना के लिए, एक अच्छी सरकार बनाने के लिए देती है, जो उनके अधिकारों को सुनिश्चित करें। इस बात को भारतीय संदर्भ में देखें तो यहाँ लोकतंत्र स्थापित है। भारतीय संविधान में परिधि पर स्थित जन-समूह के लिए विशेष प्रावधान कर उन्हें राजनीतिक-वैधानिक रूप से अधिक सशक्त बनाया गया है।

उत्तर-आधुनिकता ने सैद्धांतिकी पर अनेक प्रकार से प्रश्न-चिन्ह लगा दिए है। उत्तर-आधुनिकता में उलट-फेर करते हुए उन चीजों को प्रकाश में लाया जाता है जो अब तक दबी हुई थी। सिद्धांत एक प्रकार से सत्ता-केन्द्र स्थापित करते हैं जो किसी चीज को निश्चित कर देते हैं, उसे एक ही प्रकार की दृष्टि से देखते हैं। यूँ सिद्धांत एक अंती होते हैं। यहाँ उलट-फेर का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। इसीलिए उत्तर-आधुनिकता सैद्धांतिकी का विरोध करती है और परिधि पर स्थित अर्थात् दबे हुए को

प्रकाश में लाने का रास्ता खोलती है। यहीं से विश्व भर के साहित्य में शुरूआत होती है विमर्श की, जो अपनी प्रकृति में अनेक अंती है और चीजों को देखने-परखने का अ-माप स्पेस देता है। सिर्फ साहित्यिक विमर्श ही नहीं, राजनीतिक विमर्श, सामाजिक विमर्श, धार्मिक विमर्श मिलकर एक अलग ही दुनिया बना रहा है और जहाँ सैद्धांतिकी प्रश्नों के घेरे में है।

1.2.1 सिद्धांत

सिद्धांत, सिद्धि का अंत है। यह वह धारणा है जिसे सिद्ध करने के लिए हमें जो कुछ करना था वह हो चुका है और अब स्थिर मत अपनाने का समय आ गया है। (सिद्धांत_(थिअरी))

सिद्धांत से तात्पर्य उस सुनियोजित ढाँचे या संरचना से है जिसके माध्यम से हमें किसी प्रक्रिया विशेष को जानने, समझने, प्रयोग में लाने तथा उस प्रक्रिया के परिणामों का पूर्वमान लगाने में समुचित सहायता मिल सकती है।

सिद्धांत चीजों को निश्चित कर देता है। तात्विक विवेचन-विश्लेषण करके उसके स्वरूप को तय करता है, लक्षणों और विशेषताओं को निश्चित करता है। संबंधित विचारों को एक फ्रेम में स्थित करते हुए कई सारी चीजों को देखने का एक सुस्पष्ट दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है जिसके आधार पर साहित्य में कृति, काल, युग, व्यक्ति आदि का मूल्यांकन किया जाता है। सिद्धांत केन्द्र में रहते है। अतः वे सत्ता-केन्द्री होते हैं। जो केन्द्र में रहता है उसके पास सत्ता होती है।

साहित्यिक सिद्धांत की रचना साहित्य को विभिन्न दृष्टि से समझने-मूल्यांकित करने के लिए की जाती है। जैसे भारतीय काव्यशास्त्र का रस-सिद्धांत साहित्य की रसवादी व्याख्या करते हुए भाव पक्ष को महत्वपूर्ण घोषित करता है, जबकि वक्रोक्ति-सिद्धांत, औचित्य-सिद्धांत, रीति-सिद्धांत साहित्य के कला पक्ष को महत्वपूर्ण मानते हुए साहित्य की आत्मा घोषित करते हैं। लेकिन वर्तमान समय अन्तरपाठीयता का समय

है जहाँ एक अनुशासन दूसरे अनुशासन में साधिकार प्रवेश करता है और अपने सिद्धांतों को साहित्य पर भी लागू करता है। विश्व स्तर पर बने विभिन्न सिद्धांतों का संबंध विश्व की विभिन्न भाषा में रचित अनेक साहित्यिक कृतियों में दृष्टिगत होता है। साहित्येतर सिद्धांतों से अस्तित्व में आई विचारधारा के अनुरूप आज साहित्य का सर्जन होना आम बात बन चुका है। जैसे साहित्य का भाषावैज्ञानिक अध्ययन, सांस्कृतिक अध्ययन, विमर्शों की दृष्टि से अध्ययन, पारिस्थितिक अध्ययन आदि।

1.2.2 विमर्श

विमर्श से तात्पर्य है वक्ताओं के बीच संवाद या सार्वजनिक चर्चा। यह दो या अधिक व्यक्तियों के बीच होती है जिसमें सोच-विचार और चिंतन-मनन किया जाता है। किंतु उत्तर-आधुनिकता के संदर्भ में यह महज दो व्यक्तियों के बीच की बहस नहीं है। विमर्श की अधिक समझ प्राप्त करने के लिए विविध विद्वानों द्वारा प्रस्तुत विचार इस प्रकार हैं :

(1) 'मानक हिन्दी कोश' के अनुसार विमर्श का अर्थ है, (1) सोच-विचार कर तथ्य या वास्तविकता का पता लगाना। (2) किसी बात पर कुछ सोचना-समझना, विचार करना। (3) गुण-दोष आदि की आलोचना या मीमांसा करना। (4) जाँचना और परखना। (5) किसी से सलाह या परामर्श करना। (मानक हिन्दी कोश)

(2) (अ) विमर्श का अर्थ होता है अभिव्यक्ति के उन तत्वों और पहलुओं की संरचना जो अपने कुल जोड़ से भी परे जाकर कोई खास अर्थ देने की क्षमता रखते हों।

(आ) एक निश्चित सामाजिक संदर्भ में भाषा के जरिये किसी एक विषय के इर्दगिर्द होती हुई बहस द्वारा व्याख्याओं, तात्पर्य और मान्यताओं के निर्माण की प्रक्रिया को विमर्श या आख्यान या कलाम का नाम दिया जा सकता है।

(नसीम पृ. 286)

(3) भोलानाथ तिवारी 'विमर्श' का अर्थ परामर्श, मशविरा, राय-बात, विचार-विनिमय, विचार-विमर्श, सोच-विचार करते हैं। (चव्हाण से उद्धृत, पृ. 18)

(4) विमर्श एक ऐसी अवधारणा है जिसके अनेक अर्थ है। विमर्श से तात्पर्य है 'विचार की समग्रता या समग्रता में विचार', 'तात्पर्य', 'निहितार्थ', 'दृष्टिकोण', 'गहन अंतर्दृष्टि', 'धारणाएँ', 'अभिवृत्तियाँ', 'अर्थ-व्यंजना का समग्र सौंदर्य', 'अर्थ की अंतर्यात्रा से तत्त्व', 'अर्थ मीमांसा से प्राप्त ठोस तर्क', आदि। (पालीवाल, उत्तर आधुनिकता और दलित विमर्श पृ. 55)

(5) विमर्शगत अध्ययन का अर्थ है - किसी विशिष्ट सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृश्यफलक पर संप्रेषण कार्य। विमर्श में केवल वाणी और लेखन ही नहीं आता, अपितु इसके क्षेत्र में अवाक (नोन वर्बल), दृश्यात्मक, विद्युत संप्रेषण तथा मिथक एवं विधि-विधानों का भी समावेश हो सकता है। (अरगड़े, सिद्धांत बनाम विमर्श : सिद्धांत एवं विमर्श पृ. 150)

संक्षेप में विद्वानों द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट होता है कि

1) विमर्श शब्द का अर्थ है सोच-विचार, चिंतन-मनन या संवाद।
2) विमर्श व्याख्याओं, तात्पर्य और मान्यताओं के निर्माण की प्रक्रिया है।
3) विमर्शगत अध्ययन में किसी विमर्श के उद्भव और विकास के विभिन्न संदर्भों की सूक्ष्म जाँच की जाती है।
4) विमर्शगत अध्ययन में विमर्श को अवगत कराने वाले सांस्कृतिक, राजनीतिक संवादों की प्रक्रिया का अध्ययन किया जाता है।
5) विमर्शगत अध्ययन वाणी और लेखन के साथ-साथ अवाक, दृश्यात्मक, विद्युत संप्रेषण, मिथक, सांस्कृतिक प्रतीक एवं विधि-विधानों का समावेश होता है।

उत्तर-आधुनिकता में स्पेस का महत्व है। विमर्श का संबंध उत्तर-आधुनिकता से

है। हर प्रकार का विमर्श अपने लिए निश्चित स्पेस चाहता है, विमर्श से जुड़े समुदाय अपने लिए अलग स्पेस चाहते हैं। इस प्रकार हर विमर्श की एक अलग स्पेस या जगह हुई। और इस प्रकार विमर्शों ने अभिव्यक्ति को दी एक अ-माप स्पेस। इस अ-माप स्पेस से इनडिफरेंस पैदा होता है जिसने दृष्टि (विज़न) को एकदर्शी बना दिया है। उदाहरण के तौर पर भारत में परिधि पर स्त्री, दलित, आदिवासी रहे हैं। इसमें स्त्री-विमर्श स्त्री के लिए एक अलग स्पेस की मांग कर रहा है और अन्य विमर्शों (दलित-विमर्श या आदिवासी-विमर्श) में भी उसकी मुख्य चिंता में भी स्त्री ही केन्द्र में होती है। उदाहरण के लिए कौशल्या बैंसत्री की कृति 'दोहरा अभिशाप' देखी जा सकती है। यह दलित विमर्श की रचना होते हुए भी इसमें स्त्री को एक विशेष स्पेस दी गई है। इसी बात को विकलांग विमर्श के उदाहरण द्वारा भी समझा जा सकता है। विकलांग विमर्श भी अन्य विमर्शों की तरह अपने लिए एक अलग स्पेस की माँग करता है। जहाँ स्त्री, दलित, आदिवासी आदि विमर्शों के भीतर भी इनकी मुख्य चिंता विकलांग को ही केन्द्र में रखती है।

1.2.3 विमर्शगत अध्ययन : बहस के आधार

साहित्य में विमर्शगत अध्ययन बीसवीं शती के उत्तरार्ध की देन है। विमर्शगत अध्ययन के अंतर्गत विमर्शों का गठन, विगलन, पुनः निर्माण और रखरखाव का अध्ययन विभिन्न संदर्भों में किया जाता है। इस प्रकार का अध्ययन करते समय संबंधित सांस्कृतिक-राजनीतिक संवाद और बुद्धिगम्य (कॉग्निटिव) प्रक्रिया का सूक्ष्म अभ्यास किया जाता है। इस प्रकार के अभ्यास के लिए साहित्यिक समीक्षा, साहित्य में भाषा-विज्ञान, संस्कृति अध्ययन और दर्शन अध्ययन की पद्धतियाँ अपनाई जाती है।

1.2.3.1 साहित्यिक समीक्षा

विमर्शगत अध्ययन करने के लिए साहित्यिक समीक्षा का आधार महत्वपूर्ण है।

साहित्यिक समीक्षा करने में प्राचीन काल से ही काव्यशास्त्र द्वारा निर्मित विविध सिद्धांत सहायक होते हैं। भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र ने साहित्य के स्वरूप, उद्देश्य, लक्षणों आदि पर विस्तार से विचार किया है; लेखक का पाठक और समाज से जो संबंध है उस पर सिद्धांत बनाए हैं। विमर्शगत अध्ययन में साहित्यिक समीक्षा का आधार लेते हुए डॉ. रंजना अरगड़े (सिद्धांत बनाम विमर्श : सिद्धांत एवं विमर्श पृ. 151) यह तथ्य प्रस्तुत करती हैं कि नायक कैसा होना चाहिए, उसके लक्षण भारतीय काव्यशास्त्र और पाश्चात्य काव्यशास्त्र (ट्रेजडी का नायक) में है किंतु कहीं भी यह संदर्भ नहीं मिलता कि लेखक किस कुल का होना चाहिए। वाल्मीकि और व्यास जैसे आदि कवियों को छोड़ दे तो भक्तिकाल के संत काव्यधारा में निम्न जाति के कवियों का संदर्भ मिलता है। इतना ही नहीं भारतीय काव्यशास्त्र में महाकाव्य के जो लक्षण निर्धारित हुए, वे कृति और परंपरा केन्द्री थे, लेखक केन्द्री नहीं। अतः रचनाकार चाहे जिस कुल में उत्पन्न हो, रचना में दलित-उपेक्षित की पक्षधरता के लिए कोई स्थान नहीं था।

1.2.3.2 साहित्य में भाषा विज्ञान

समीक्षा के क्षेत्र में भाषाविज्ञान के प्रवेश से विमर्शगत अध्ययन की शुरूआत मानी जाती है। भाषाविज्ञान विमर्शों और उससे संबद्ध लोगों के अध्ययन के लिए विभिन्न पद्धतियों को अपनाता है। पाठ की समीक्षा के लिए अब भाषाई तत्वों, भाषा की संरचना को आधार बनाकर गहन संरचना से अर्थ को प्राप्त करने का उपक्रम किया गया। आगे चलकर उस केन्द्र को ही विस्थापित किया गया जो पाठ को अपने अधीन रखता था। पाठ में अतलाशित की तलाश करने पर अब तक दबाया गया या स्थगित किया गया दूसरा अर्थ या विमर्श सामने आता है। इस प्रकार एक विमर्श दूसरे विमर्श के संदर्भों से निकलता है, फिर दूसरा विमर्श तीसरे विमर्शों के संदर्भों से, यह क्रम चलता रहता है।

1.2.3.3 संस्कृति अध्ययन

विमर्श में संवाद होते है और संवाद करते समय समाज विशेष के सांस्कृतिक प्रतीकों-मिथकों का ध्यान रखना पड़ता है। यदि उस समाज के सांस्कृतिक प्रतीकों का ध्यान नहीं रखा गया तो संवाद के स्थान पर संघर्ष होगा। अतः विमर्श अध्ययन में सांस्कृतिक अध्ययन का आधार लिया जाता है, सांस्कृतिक अध्ययन की पद्धति अपनाई जाती है।

विमर्श में सांस्कृतिक अध्ययन के महत्व को प्रतिपादित करते हुए डॉ. रंजना अरगड़े 'रामचरित मानस' के शूर्पणखा के प्रत्यक्ष प्रणय निवेदन का उदाहरण देती हैं, जहाँ शूर्पणखा अपने सामाजिक रीति-रिवाज एवं सांस्कृतिक प्रतीकों के अनुसार प्रस्ताव रखने पर संवाद के स्थान पर सांस्कृतिक संघर्ष में उतर जाती है और अंततः दंड भुगतती है। वहीं दूसरी ओर रावण चतुर है जो संवाद के लिए साधु-वेश धारण करता है अर्थात् राम की संस्कृति के प्रतीक को अपनाता है। इसलिए उसका संवाद सफल होता है। सांस्कृतिक प्रतीकों का उपयोग जनता के साथ संवादों तथा अपनी लोकप्रियता की वृद्धि के लिए करना राजनीतिक हथकंडे के रूप में एक लंबे समय से भारतीय राजनीति में देखा जा सकता है। राजनीति के स्पेस में धर्म तथा संस्कृति-प्रतीकों के विशिष्ट उपयोग संवाद अथवा बातचीत का आधार बनता देखा जा सकता है। उत्तर-आधुनिक समय में मीडिया-प्रचार की बहुलता के फलस्वरूप वह स्वीकार, विरोध, घृणा तथा संघर्ष का आधार एवं कारण बनती है। यहाँ इस बात को रेखांकित करना होगा कि बाज़ार के लिए स्वीकार तथा घृणा दोनों कहीं न कहीं सकारात्मक मूल्य बन जाता है। अतः संस्कृति, राजनीति, धर्म के प्रतीक साहित्य में विमर्श की समान भूमि निर्मित करते हैं।

1.2.3.4 दर्शन और विमर्शगत अध्ययन

बीसवीं शताब्दी के आरंभ तक चिंतन विभिन्न संदर्भों के साथ प्रस्तुत होते हुए

भी लगभग इकहरा था। भारतवर्ष में जन्म लेने वाले मनीषी और चिंतक विविध क्षेत्र के जानकार थे किंतु उनके वहाँ एक कला का दूसरी में जबरन प्रवेश नहीं होता था। भरतमुनि का रस सिद्धांत नाट्यशास्त्र से काव्य के क्षेत्र में आता है तो रसानुभूति की प्रक्रिया बदल जाती है इतना ही नहीं सौंदर्यानुभूति और भाषा-संरचना भी पहले से भिन्न हो जाती है। यही बात पाश्चात्य साहित्य क्षेत्र के प्लेटो, अरस्तू आदि में भी दृष्टिगत होती है। अरस्तू अनुकरण का अर्थ राजनीति-शास्त्र, भौतिक-शास्त्र और काव्य-शास्त्र में अलग-अलग करते हैं।

साहित्य और दर्शन का घनिष्ठ संबंध रहा है। अधिकांश रचनाकारों के लेखन की पृष्ठभूमि दर्शन पर आधारित है। लेकिन एक पाठक के रूप में साहित्य की रसानुभूति करने के लिए दार्शनिक विवेचन-विश्लेषण की आवश्यकता नहीं होती। भक्तिकाल में तुलसीदास द्वारा रचित 'रामचरित मानस' या सूरदास के पदों का आनंद जनता इसी प्रकार उठाती रही है। डॉ. रंजना अरगड़े कहती हैं कि पुष्टिमार्ग में निहित 'लीला' का संदर्भ किस तरह सूर के टेक्स्ट में अर्थवान होता है यह जानना एक धार्मिक, वैष्णवपंथी, पुष्टिमार्गी भक्त के लिए अनिवार्य हो सकता है, पर काव्य-मर्मज्ञ अथवा काव्य-रसिक के लिए नहीं। इस अर्थ में साहित्यिक कृतियाँ अब तक बंद थी। विमर्शगत अध्ययन के प्रचलन के उपरांत ही कृतियाँ मानो चारों ओर से खुल गई हों। ये जो अलग-अलग थे, वे अब एक-दूसरे के इलाकों में उनसे बिना पूछे साधिकार प्रवेश करने लगे हैं। विमर्शगत अध्ययन के चलते ही अब साहित्य पर संस्कृतिकर्मी, समाजशास्त्री, अर्थशास्त्री या राज्यशास्त्री अपने विचार उतनी ही योग्यता और निपुणता के साथ रख सकता है जितना कि साहित्यकर्मी।

1.2.4 सिद्धांत और विमर्श

सिद्धांत और विमर्श का व्यापक दृष्टि से विचार-चिंतन अध्ययन करते हुए डॉ. रंजना अरगड़े ने जिन महत्वपूर्ण तथ्यों को उजागर किया है वह इस प्रकार है :

1) सिद्धांत की प्रकृति है चीजों को तय एवं निश्चित कर देना। वह एक अंतीय सिरा है, जबकि विमर्श अपनी प्रकृति में ही बँटे हुए होते हैं, अनेक अंती होते हैं और इसलिए वहाँ कुछ भी निश्चित नहीं किया जा सकता। .... जैसे किसी कृति में नारी की उपस्थिति भी नारी-विमर्श का मुद्दा बनता है और उसकी अनुपस्थिति भी नारी विमर्श का मुद्दा बन सकता है। पर कृति अगर रस केन्द्री नहीं है, अपितु अलंकार केन्द्री है, तो उसका रस-केन्द्री न होना चर्चा या विमर्श का मुद्दा नहीं बनता।
2) जब हम विमर्श-केंद्री होते हैं तो साहित्य की अर्थ प्राप्ति को खुलापन के साथ ग्रहण कर सकते हैं, परंतु सिद्धांत केन्द्री होने पर साहित्यिक तथा विचारधारा संबंधी मुद्दे हमें चुभते रहते हैं।
3) हमारा सिद्धांत-मुखी माइंड-सेट विमर्शों को भी सिद्धांतों में परिवर्तित करने के लिए तत्पर रहता है।
4) सिद्धांत दार्शनिक चिंतन से नाभी-नालबद्ध होते हैं जबकि विमर्श मुख्यतः राजनीति से संबद्ध होते हैं।

सिद्धांत और विमर्श के उपर्युक्त अध्ययन के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि एक लंबे समय तक सिद्धांतों का दबदबा रहने के कारण उसने मनुष्य की सोच को इसी अनुरूप बना दिया है। मनुष्य की सोच इस कदर सिद्धांत-केन्द्री बन गई है जो विमर्शों के खुलेपन को भी निश्चित फ्रेम में ढालकर देखने को प्रेरित करती रहती है। अब विमर्शों के भी नियम बनाने की कोशिश की जा रही है, अर्थात् विमर्शों को एक सैद्धांतिक रूप देने का प्रयास किया जा रहा है। जैसे कि कोई रचनाकार स्त्री है तो उसे नारीवादी कहा जायेगा। इससे भी आगे बढ़कर स्त्री रचनाकार परंपरावादी है या स्त्री-विमर्श से जुड़ी है अथवा तो वह मार्क्सवादी है या रूपवादी है या आधुनिकतावादी है कहते हुए उसे सिद्धांत की फ्रेम में लाया जा रहा है।

इसके साथ यह प्रश्न खड़े होते हैं कि क्या सिद्धांत और विमर्श एक-दूसरे के विरोधी हैं या विमर्श अपना खुलापन छोड़कर सिद्धांत मुखी बन रहे हैं? क्या सिद्धांत का सत्ताकेन्द्री चुंबकीय तत्व किसी तरह विमर्श को निगल कर अपने में मिला रहा है? क्या मनुष्य का सिद्धांत-मुखी माइंड-सेट विमर्शों को भी सिद्धांत के फ्रेम में ला छोड़ेगा या विमर्श अपना अस्तित्व बचा पाएंगे? लगता है इन प्रश्नों का उत्तर भविष्य के प्रकाश में ही मिलना संभव हो पायेगा।

1.2.5 साहित्य की पारंपरिक विधाओं का हनन और नयी विधाएँ

सिद्धांत विषयक अध्ययन करते हुए देखा कि सिद्धांत चीजों को तय करता है। निश्चित फ्रेम में ढाल देता है। वह चीजों के तत्व, विशेषताओं, लाक्षणिकताओं प्रायः निश्चित कर देता है। हिन्दी साहित्य में उत्तर-आधुनिकता का आगमन होने तक सिद्धांत का ही एक-छत्र प्रभुत्व रहा है। इसी लिए हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओं का निश्चित फ्रेमवर्क बना दिया गया है, सभी विधाओं के तत्व निश्चित कर दिये गए हैं। सबसे पहले आचार्यों ने साहित्य को दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य में विभाजित किया, फिर श्रव्य काव्य को गद्य, पद्य और चंपु काव्य में। वर्गीकरण की यह प्रक्रिया चलती रही। फिर गद्य को विभाजित करते हुए आधुनिक विधाओं, जैसे - उपन्यास, कहानी, निबंध, संस्मरण, रेखाचित्र, यात्रावृत्त आदि में वर्गीकृत किया गया। इस समग्र वर्गीकरण का आधार बना उसके लेखन की प्रकृति और तत्व, जिसे सिद्धांत ने तय किया।

विधागत तत्वों के फ्रेम में बैठना सिद्धांत है और कृति को उससे बाहर निकलना विमर्श। उत्तर-आधुनिक दौर में सैद्धांतिकी को चुनौती दी गई, क्योंकि कुछ भी सार्वभौम और स्थाई नहीं हो सकता। इसी के साथ सैद्धांतिक फ्रेम में तय हो चुकी विधाओं पर भी खतरा मँडराने लगा। अब साहित्य तयशुदा फ्रेम को तोड़ता है, उससे बाहर निकलता है। इतना ही नहीं एक-दूसरे में हस्तक्षेप भी करता है। कई बार स्थिति

ऐसी बन जाती है कि उसकी विधा तय करना टेढ़ी खीर हो जाती है। जैसे कि 'जूठन' वैसे तो आत्मकथा है, पर कभी-कभी उसके उपन्यास होने की चर्चा भी चली।

जिन तत्वों के आधार पर उपन्यास या कहानी विधा को निश्चित किया गया था उन तत्वों से बाहर निकलने पर ही उपन्यास कभी तो लघु उपन्यास बनता है तो कहानी कभी लंबी कहानी बन जाती है। कभी 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' जैसी रचना साहित्य जगत के सामने आती है, जो सात कहानियों के गठन से बना उपन्यास है। जो कहानी भी लगती है और उपन्यास भी। साहित्य जगत का सिद्धांत-केन्द्री माइंड-सेट इसे प्रयोगधर्मी रचना कह कर चर्चा टाल देता है। किंतु विमर्श के खुले प्रांगण में आने पर साहित्य की पारंपरिक विधाओं में आ रहे अंतर को समझने की दृष्टि मिलती है।

'विमर्श' शब्द का अर्थ ही है चर्चा, विचार, वाद-विवाद आदि। विमर्श में चर्चा होती है, वाद-विवाद होता है, बातों-बातों में विश्लेषण होता है, संवाद होता है। यही साहित्यिक कृति के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होता है। पत्रिकाओं में 'संवाद', 'बात-बात में' शीर्षक से लेखन हो रहा है। पत्र-पत्रिकाओं की अनुक्रमणिका में अब कविता, कहानी जैसे विधागत वर्गीकरण के साथ संवाद या विमर्श का समावेश होना सहजता दिखाई पड़ता है।

रचनाकारों के साहित्यिक साक्षात्कार किए जाते रहे हैं और पत्रिकाओं में छपते भी रहे हैं, किंतु अब साहित्यिक साक्षात्कार पर पुस्तकें प्रकाशित होने लगी हैं। यह भी किसी एक रचनाकार का किसी एक व्यक्ति द्वारा किया गया साक्षात्कार तक सीमित नहीं रहीं। विविध व्यक्ति द्वारा किए गए अलग-अलग रचनाकारों के साक्षात्कार की पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं। जैसे 'महाकाव्य विमर्श' पुस्तक।

प्रवासी लेखन (डायस्पोरा स्टडीज़) का जो नया रूप साहित्य-जगत के सामने आया है उसे भी साहित्य की पारंपरिक विधा का परिवर्तन ही माना जाना चाहिए।

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल की शुरूआत में प्रवास के दौरान किया गया लेखन यात्रावृत्त या निबंध विधा के अंतर्गत आता था, किंतु आज उसकी जगह प्रवासी लेखन ने ले ली है। इसको एक अलग विधा के रूप में देखा जाता है। इतना ही नहीं, आज इसका अलग अनुशासन बन रहा है।

1.3 भाषा : सत्ता (केंद्र) से परिधि तक

मनुष्य अपने भाव, विचार, अनुभूतियाँ, अपेक्षा आदि की अभिव्यक्ति के लिए भाषा का नाना रूप से उपयोग करता आया है। मनुष्य जब अपने भाव, विचारादि की शब्दार्थ के माध्यम से कलात्मक अभिव्यक्ति करता है तब उसे साहित्य कहा जाता है।

देश और काल के साथ साहित्य में प्रस्तुत भाषा के रूप भी बदल जाते हैं। साहित्य पर जब आभिजात्य वर्ग का प्रभाव था तब भाषा उनकी विशिष्टता की छाँट लिए प्रस्तुत होती थी। दाँते ने जब देशज भाषा इतालियन में 'डिवाईन कॉमेडी' लिखा तब पहली बार भाषा का देशज रूप सामने आया था। साहित्य में भाषा का यह वैविध्यता पूर्ण क्रम चलता रहा है। उत्तर-आधुनिक युग में सत्ता के समीकरण बदलते हैं। इस बदलाव से परिधीय वर्ग शक्तिशाली बनकर उभरता है। विश्व के भिन्न-भिन्न क्षेत्र में अलग-अलग प्रकार के परिधीय वर्ग प्रभावशाली बने और राजनीति, साहित्य आदि क्षेत्र में अपनी उपस्थिति दर्ज कराने लगे हैं। अपने अस्तित्व का अहसास दिलाने के लिए, अपनी पहचान स्थापित करने के लिए परिधीय लोगों ने न केवल अपनी भाषा के द्वारा अपनी संस्कृति, विचार, मान्यताओं को साहित्य में अभिव्यक्त किया वरन् अपना अधिकार प्राप्त करने के लिए विमर्श भी किए, आंदोलन भी चलाए और अपने अलग साहित्यिक संगठनों का निर्माण भी किया। इनकी एक अलग श्रेणी बनीं और स्वीकृत हुई। इस प्रकार भाषा में आये परिवर्तन का संबंध सत्ता से है।

1.3.1 सत्ता की अवधारणा

सत्ता से तात्पर्य है - नियंत्रित करने वाले कारक जिसे अंग्रेजी में कंट्रोंलिंग फैक्टर कहा जाता है। प्राचीन काल से देश और जनता को नियंत्रित करने वाले कारक चाहे जो भी रहे हो, किंतु उत्तर-आधुनिक युग में नियंत्रक कारक मुख्य रूप से राजनीति ही रहा है। प्रारंभ में यह राजाशाही के रूप में अस्तित्व में था। यह अलग बात है कि फिर उसका प्रकार चाहे लोकतांत्रिक रहा हो या तानाशाही का। आधुनिक युग में अधिकांश देश राजाशाही से मुक्त हो गए हैं और लोकतंत्र की स्थापना की ओर उन्मुख हुए हैं। उत्तर-आधुनिक युग में तानाशाही-राजाशाही की नीति अपनाने वाले कुछ देशों में भी जन विद्रोह हुआ और सत्ता को पलटाते हुए जनतंत्र को स्थापित किया गया। कुल मिलाकर आज की स्थिति में दुनिया में स्थित देशों में से अनुमान से 70 प्रतिशत से अधिक देशों में लोकतंत्र देखा जा सकता है। यहाँ जनता चुनाव के माध्यम से राजनीति में सत्ता अर्थात् शक्ति (पावर) का केन्द्र निर्मित करती हैं।

यद्यपि लोकतंत्र ने देश के प्रत्येक नागरिक को एक समान अधिकार प्रदत्त किए हैं और भारत जैसे देश में विविध रूप से पिछड़े लोगों को मुख्य धारा में लाने के लिये संविधान में ही विशेष प्रकार के उपबंध किए हैं। कहने का तात्पर्य है कि लोकतंत्र में परिधि पर खड़े वर्ग के पास भी सभी अधिकार हैं। फिर भी ध्यान देने वाली महत्वपूर्ण बात यह है कि उनके पास सामाजिक स्वीकृति की व्यवस्था (social setup) नहीं हैं। इस व्यवस्था को राजनीतिक अधिकारों एवं संघर्षों को प्राप्त करने के उपक्रम के रूप में देखा जा सकता है।

उत्तर-आधुनिककाल में उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण के चलते जो नई आर्थिक नीति स्वीकृत हुई उससे एक नया कंट्रोलिंग फैक्टर भी महत्वपूर्ण हो गया और वह है अर्थनीति। यद्यपि धन पहले से ही राजनीति को सुचारु रूप से चलाने के

लिए एक महत्वपूर्ण उपकरण रहा है, लेकिन उत्तर-आधुनिककाल में अर्थनीति में आये परिवर्तन से खुले बाज़ार की संकल्पना अस्तित्व में आई। कम से कम राजनीतिक हस्तक्षेप और माँग-आपूर्ति के सिद्धांत / अवधारणा पर चल रहा बाज़ार उत्तर-आधुनिक युग में इतना प्रभावी हो गया है कि अब वह तय करता है कि चुनाव में क्या होगा। अर्थात् सत्ता के रूप में राजनीति की जो सत्ता थी वह अब कहीं ओर से, बाज़ार से, संचरित होती है।

यह स्पष्ट है कि सत्ता का संबंध केन्द्र से है। जो केन्द्र में होता है उसी की सत्ता तत्कालीन देश-काल में चलती है। सत्ता का यह विचार साहित्य में भी होता है। साहित्य में सत्ता को दो स्तरों पर देखा जा सकता है - पहला, विचार या भाव के स्तर पर और दूसरा, अभिव्यक्ति या भाषा के स्तर पर। इसे समझने के लिए हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल का उदाहरण लिया जा सकता है। भक्तिकाल में सगुण धारा में ईश्वर के प्रत्यक्ष रूप को स्वीकारा गया है जबकि निर्गुण धारा में ईश्वर का निराकार रूप है। संत परंपरा धार्मिक पाखंड, बाह्याडंबर आदि का विरोध करती है। भक्ति की चारों शाखाएँ ईश्वर को अलग रूप में देखती है और अलग तरीके से ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग बताती है। लेकिन समग्रतः देखा जाए तो इन सभी धारा के केन्द्र में ईश्वर ही है, अर्थात् यहाँ, भक्तिकाल के साहित्य में ईश्वर की सत्ता है। तत्कालीन प्रायः सभी कवि ईश्वर को अपनी कविता की विषय-वस्तु बना रहे थे।

1.3.2 परिधि की अवधारणा

परिधि से तात्पर्य है - मुख्य धारा में न होकर दूर, अलग-थलग होना। परिधि पर रहने वाले प्रायः मुख्य धारा से अलग-थलग होते हैं। यह समुदाय के रूप में एक-जुट होकर खड़े होते हैं तब भी अल्पमत में रहते हैं। इसके बावजूद सामाजिक स्वीकृत व्यवस्था-तंत्र के अभाव में भी संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकारों के तहत यह लोग भी समूह में रह सकते हैं, रहते हैं, समूह में काम कर सकते हैं। उत्तर-आधुनिक युग में

सत्ता के समीकरण बदलने से परिधि पर खड़े लोग महत्वपूर्ण बनकर सामने आए हैं। इस प्रकार परिधीय वर्ग सत्ता का डिसाइडिंग फ़ैक्टर अर्थात् निर्णायक कारक बन जाता है।

परिधि की अवधारणा से कुछ रोचक निष्कर्ष सामने आते हैं। जब आधुनिकता और परंपरा के संदर्भ में उत्तर-आधुनिकतावाद में परिधीय कहते हैं तब ब्लैक समुदाय, समलैंगिक, भारत में स्त्री समुदाय, दलित समुदाय, आदिवासी समुदाय, अल्पसंख्यक आदि सब आ जाते हैं। लेकिन डिसाइडिंग फ़ैक्टर के रूम में, जो लोग परंपरा से बहुमत में (मेजर) है वह परिधि पर चले गए हैं। यह विरोधाभास महत्वपूर्ण है जो आज के सभी क्रिया-कलापों को परिचालित करता है। यहाँ देरिदा के केन्द्र और परिधि के विचार को संदर्भित किया जा सकता है।

यह जो विरोधाभास है उसे भाषा के संदर्भ में देख सकते हैं। भाषा का मुख्य काम है अभिव्यक्त करना। अब भाषा उन सभी क्षेत्रों को उजागर करती है जो इससे पहले उजागर नहीं हुए। भाषा वह सभी अनुभूतियाँ, सभी संवेदनाएँ, सभी विचार, सभी अपेक्षाएँ आदि को अभिव्यक्त करती है जो इससे पहले अभिव्यक्त नहीं हुए थे। भाषा अब केन्द्र से परिधि तक चली गयी है क्योंकि लोग केन्द्र से परिधि तक चले गए हैं और परिधि के लोग केन्द्र में आ गए हैं।

उत्तर-आधुनिक युग में नियंत्रक कारक (कंट्रोलिंग फैक्टर) में महत्वपूर्ण परिवर्तन दृष्टिगत होता है। पहले जो केन्द्र था उसमें अर्थनीति भी वही थी, राजनीति भी वही थी, धर्म-नीति भी वही थी और समाज-नीति भी वही थी। लेकिन जैसे ही यह चीज बदलती है, जब परिधि का महत्व बढ़ता है और परिधि सत्ता पर आती है तब परंपरागत सत्ता केन्द्र से विस्थापित हो जाती है।

बाज़ार के आने के बाद अर्थनीति फैल जाती है। पहले जब सब कुछ केन्द्र में रहनेवालों के पास था, तब यह तय होता था कि कोई विशेष चीज किसी जाति या

वर्ग विशेष के लिए है और किसी अन्य जाति या वर्ग के लिए नहीं है। बाज़ार के आने से खरीददार केन्द्र में आ जाता है। बाज़ार रंग, लिंग, जाति आदि के आधार पर भेद नहीं करता। बाज़ार यह तय नहीं करता कि यह विशेष वस्तु किसी विशेष जाति के लिए ही है और उसे ही दी जाएगी। बाज़ार पूर्व निश्चित किए गए इन भेदो को तोड़कर मनुष्य मात्र को ग्राहक मानता है। बाज़ार के कारण विशेषज्ञता समाप्त हो जाती है। इस प्रकार केन्द्र में रहनेवालों के पास जो सत्ता थी वह यहाँ फैल जाती है।

धर्म की सत्ता है उसमें एक तरह का पेच निर्माण होता है। केन्द्र का धर्म तो केन्द्र के पास है ही, लेकिन लोकतंत्र के कारण धर्मनिरपेक्ष समूह (सेक्युलर ग्रुप) उपस्थित होते हैं। अब धर्मनिरपेक्ष समूह आ जाने के कारण जो वर्णवादी लोग है या जो केन्द्र में है या पश्चिम का एलिट वर्ग है वह पहले जितने महत्वपूर्ण नहीं रह जाते। उदाहरण के रूप में दलित कहते हैं कि हमें तुम्हारे ईश्वर ही नहीं चाहिए। अर्थात् जिस ईश्वर और धर्म के नाम पर खुद को कुचले जाने का अनुभव वह करता रहा है उसे अस्वीकार कर देता है।

दलित अपनी अलग पहचान स्थापित करना चाहते हैं। शुरूआत में तो उनके काव्य को ही अस्वीकार किया गया, लेकिन जैसे ही सत्ता-केन्द्रिता बदलती है वैसे ही स्वीकार-अस्वीकार का चित्र भी बदल जाता है। काव्य के माध्यम से उन्होंने जो अपनी बात रखी उसे 'दलित-काव्य' कहा गया। इस दलित शब्द को वर्ग विशेष के स्थान पर दलन किए गए सभी वर्गों के पीड़ित, शोषित के साथ जोड़ दिया गया। यहाँ दलित काव्य में 'दलित' विशेषण था। अब पिछले कुछ समय से इसे दलित काव्य न कहते हुए 'भीमकाव्य' कहा जाता है। यहाँ 'भीमकाव्य' संज्ञा बन जाता है। संज्ञा बनने के कारण इसकी एक मुद्रा बन गई है। भीमकाव्य कहने से अन्य सब गैर-दलित बाहर हो जायेंगे। यहाँ भीमकाव्य संज्ञा दिये जाने से सारी लड़ाई खत्म हो जाती है, दलित काव्य का संघर्ष खत्म हो जाता है और अस्मिता स्थापित हो जाती है। अब उनकी

खुद की एक पहचान है, एक अलग मुद्रा है।

यहाँ देखा जा सकता है कि भाषा कैसे काम कर रही है। दलित काव्य के अस्तित्व में आने की और स्थापित होने की प्रक्रिया का जो विकास दिखाई देता है उसमें एक, पहचान स्थापित करने का तथा दो, भाषा का भी विकास है। जो गैर-दलित रचनाकार होकर दलित काव्य लिखते थे वह अब भी दलित काव्य के अंतर्गत लिखते रह सकते हैं लेकिन वह भीमकाव्य के अंतर्गत तो नहीं आ सकते। इस प्रकार भीमकाव्य के द्वारा यहाँ एक कैटेगरी बनाई गयी है। ऐसी कैटेगरी बनाना साहित्य की सत्ता में भी महत्वपूर्ण बात है।

यही बात नारीवादी लेखन से भी समझी जा सकती है। नारीवादी लेखन या नारी चेतना का साहित्य कहने से उसमें पुरुष द्वारा लिखा गया साहित्य भी आ जाता है, लेकिन स्त्री-लेखन (women writing) कहने से उसमें सिर्फ स्त्री द्वारा लिखा गया साहित्य ही आ पायेगा। यह जो वर्गीकरण है वह सत्ता की अस्मिता या पहचान की मुद्रा को बताता है।

सत्ता की जो समाज-नीति है वह आज भी प्रायः पहले जैसी ही है। समाज के मूल इतने गहरे है कि इससे मुक्त होना बहुत कठिन है। लोकतंत्र के कारण सभी नागरिकों को अधिकार मिल गए हैं लेकिन सामाजिक तौर पर लोगों के दृष्टिकोण में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं दिखाई देता। इसीलिए सामान्य जीवन में और सत्ता में रहनेवाले सार्वजनिक जीवन में मुखर रूप से तिरस्कार अभिव्यक्त नहीं करते हैं। किंतु सर्वेक्षण किया जाये तो निश्चय ही इस बात का पता लगाया जा सकता है कि दलित आदि के प्रति गैर-दलित के दृष्टिकोण में, स्त्री के प्रति पुरुष के मन में, अश्वेत के प्रति श्वेत के मन में क्या कोई वास्तविक भाव परिवर्तन हुए हैं अथवा केवल राजनीति एवं विधि-प्रेरित है।

दूसरी तरफ दलित आदि भी सत्ता का अनुभव कर चुके हैं। सत्ता क्या कर

सकती है यह देख चुके हैं। अगर काल्पनिक स्तर पर यह स्वीकार भी किया जाए कि सत्ता या सवर्ण / श्वेत / पुरुष के द्वारा सामाजिक स्तर पर उन्हें एकरूप करने का उपक्रम किया जाए तब भी क्या उसका स्वीकार ये वर्ग करेंगे? संभवतः नहीं। क्योंकि इससे उनके विशेष अधिकार समाप्त होने की संभावना बनी रहेगी और राजनीतिक स्तर पर निर्णायक कारक (डिसाइडिंग फ़ैक्टर) के रूप में, समूह विशेष के हाथ में आयी सत्ता चली जाएगी।

अनुवाद के संदर्भ में जब भाषा की बात करते हैं तब यह सारे संदर्भ महत्वपूर्ण हो जाते हैं। क्योंकि भाषा सिर्फ व्याकरणिक ढाँचे में सामने नहीं आती है, सामाजिक-सांस्कृतिक आदि संदर्भ के साथ उपस्थित होती है। अनुवादक को इन भाषा-संदर्भों को अनुप्राणित करने वाली भाषा में अनुवाद करना होता है।

1.3.3 विभिन्न आंदोलन और साहित्य / भाषा पर उनका प्रभाव

पाश्चात्य परंपरा में विभिन्न समय पर होने वाले विविध आंदोलनों ने साहित्य और भाषा को गहरे स्तर पर प्रभावित किया है। साहित्य में भाषा का क्या महत्व रहा है यह समझने के लिए प्रमुखतः दो आंदोलनों का अध्ययन आवश्यक बन जाता है : 1) शास्त्रवाद एवं नव शास्त्रवाद और 2) स्वच्छंदतावाद। यहाँ भाषा पर पड़े प्रभाव की दृष्टि से इन दोनों आंदोलनों का अध्ययन किया जा रहा है।

1.3.3.1 शास्त्रवाद एवं नव शास्त्रवाद

शास्त्रवाद (CLASSICISM) के लिए हिन्दी में शास्त्रीयवाद, अभिजातवाद जैसी संज्ञाओं का भी प्रयोग होता है। प्राचीन यूनान और रोम के साहित्यकारों को शास्त्रवादी कहा जाता है। इनमें मुख्य रूप से अरस्तू और होरेस हैं। तथा इनके द्वारा बने साहित्य-सिद्धांतों का पुनः प्रस्तुतीकरण करते हुए इसका अक्षरशः पालन करने पर बल देनेवाले मध्ययुगीन यूरोपीय साहित्यकारों को नव शास्त्रवादी कहा जाता है।

शास्त्रवादी साहित्यकार अपनी रचना के माध्यम से जिस भव्य विचार,

लोककल्याण की भावना और मानव-जीवन की चिरकालीन समस्याओं को प्रस्तुत करना चाहते थे उसके लिए भव्य, परिष्कृत और व्याकरणोचित भाषा का होना आवश्यक मानते थे। इन्होंने कथ्य से अधिक प्राथमिकता परिष्कृत शैली को दी है।

यूनानी विचारक अरस्तू (384-321 ई. पू.) अपने ग्रंथ 'काव्यशास्त्र' में भाषा और 'अलंकारशास्त्र' में शैली पर विचार करता है। अरस्तू अच्छी लेखन-कला के लिए प्रांजलता और उपयुक्तता को महत्वपूर्ण प्रतिमान मानता है। वह अर्थ के सफल संप्रेषण हेतु शैलीगत स्पष्टता को वांछनीय मानता है। शैलीगत स्पष्टता के लिए वह जन सामान्य को सुलभ ऐसे प्रचलित शब्दों के प्रयोग को महत्वपूर्ण समझता है। किंतु साथ ही वह मानता है कि पुरातन शब्दों, विदेशी शब्दों, बोलियों के शब्दों और नवनिर्मित शब्दों को प्रयोग लेखन शैली को गौरव एवं आकर्षण प्रदान करते हैं, अतः वह साहित्य में इन दोनों का विवेकपूर्ण संयोजन अच्छी भाषा-शैली के लिए उपयोगी मानता है।

कवि और आलोचक होरेस (65 से 08 ई.पू.) रोमन साहित्य की महत्वपूर्ण देन है। रोमन साहित्य में होरेस का वही स्थान है जो ग्रीक साहित्य में अरस्तू का है। होरेस ने अपने ग्रंथ 'आर्सपोइतिका' में काव्य भाषा संबंधी अपने विचार प्रस्तुत किए है। वह प्राचीन ग्रीक साहित्य को अपना आदर्श स्वीकार करता है। होरेस के काव्य-भाषा संबंधी विचारों में लगभग अरस्तू के भाषा-शैली संबंधी विचारों का ही अनुसरण दिखाई देता है। वह साहित्य में अरस्तू की तरह विभिन्न प्रकार के शब्दों का प्रयोग स्वीकार करता है। होरेस साहित्य की भाषा में प्रांजलता और प्रभावोत्पादकता उत्पन्न करने वाले शब्द-विन्यास पर सर्वाधिक बल देता है।

कुंतिलियन (35 ई.पू. से 59 ई.) होरेस के बाद दूसरे और अंतिम महान रोमन शास्त्रवादी है। इन्होंने शैली संबंधी धारणाएँ प्रस्तुत की है, जो मुख्यतः वाग्मिता से संबद्ध होने पर भी लेखन-कला पर उतनी ही लागू होती है। कुंतिलियन ने अपने समय

में लेखन और भाषण को लेकर खिंची गई भेद रेखा को भ्रामक बताया। वह इन दोनों की शक्ति एवं सम्मोहन का स्रोत एक ही मानता है। कुंतिलियन सफल संप्रेषण के लिए अपरिचित और नवीन शब्द प्रयोग के स्थान पर दिन-प्रतिदिन के प्रचलित शब्दों से युक्त सरल, व्याकरण सम्मत और शिक्षित समुदाय में प्रयुक्त होने वाली भाषा पर बल देता है। भाषण कला के साथ-साथ लेखन कला पर पर्याप्त चिंतन करने के कारण ही कुंतिलियन उत्तर-आधुनिक समय में भी विद्वानों का ध्यान आकर्षित करता रहा है। इसके अतिरिक्त उत्तर-आधुनिकतावाद में जिस प्रकार सार्वभौमिकता का अस्वीकार किया गया है उसी प्रकार कुंतिलियन भी साहित्यिक अवधारणाओं की सार्वभौमिकता का अस्वीकार करते हुए दिखाई देता है।

इटली के प्रसिद्ध सर्जक - आलोचक दाँते (1265-1321 ई.) ने ग्रीक और रोमन साहित्य की शास्त्रवादी अवधारणाओं ग्रीक और लैटिन भाषा में प्रस्तुत करने के स्थान पर तत्कालीन देशज इतालियन बोली को साहित्यिक भाषा के रूप में महत्व देने की हिमायत की। उसने अपनी प्रसिद्ध रचना 'डिवाईन कॉमेडी' इतालियन में लिखकर अपनी देशज-भाषा संबंधी मान्यताओं को प्रकृत रूप दिया। दाँते शास्त्रवादी लैटिन साहित्यकारों की भव्य शैली को देशज इतालियन बोली, जो उस समय व्यवहार की परिष्कृत, विख्यात और गरिमामय भाषा बन चुकी थी, में प्रस्तुत करता है।

नवशास्त्रवादी साहित्यकार शास्त्रवादी साहित्यकारों से भी अधिक नियमबद्ध दिखाई देते हैं। यह ग्रीक और रोमन काव्यशास्त्र से बराबर अनुप्राणित होते रहे हैं। इन्होंने पूर्वमान्य भाषा, छंद, अलंकार आदि के नियमों का और भी कठोरता से पालन करने पर बल दिया। दाँते ने साहित्य के लिए देशज भाषा इतालियन की हिमायत की थी उसी अनुसार नवशास्त्रवादी साहित्यकार मातृ-भाषा अंग्रेजी को वही गरिमा प्रदान करना चाहते थे जो ग्रीक और लैटिन भाषा प्राप्त कर चुकी थी।

नवशास्त्रवाद में सर फिलिप सिडनी, बेन जोन्सन, जॉन ड्राइडन, जोजेफ एडीसन,

एलेक्जेंडर पोप, डॉ. सैमुअल जॉनसन आदि साहित्यकार हुए। इन्होंने शास्त्रवाद से निर्धारित नियमों को आधार रूप मानते हुए भी कहीं-कहीं अपने मौलिक विचारों का परिचय करवाया है। सर फिलिप सिडनी (1554-1586) देशज भाषा - प्रयुक्त छंद को महत्व देता है। वहीं आधुनिक अंग्रेजी आलोचना के जनक जॉन ड्राइडन (1631-1700) शास्त्रवादी गुरुओं के प्रति आदरभाव रखते हुए भी उनके द्वारा निर्मित सिद्धांतों को देश-कालातीत नहीं मानता और न ही इन्हें सभी युगों और सभी राष्ट्रों के साहित्य पर लागू करने का समर्थन करता है। जोजेफ एडिसन (1662-1719) विशेषतः साधारण भावक का मार्गदर्शक बनकर सामने आता है। जबकि एलेक्ज़ेंडर पोप का महत्व सभी आभिजात्यवादी सिद्धांतों का व्यवस्थित एकत्रीकरण करके नवशास्त्रवाद के समग्र दर्शन को प्रस्तुत करने में निहित है। डॉ. सेमुअल जॉनसन (1709-1784) अंतिम नवशास्त्रवादी है। इसने पूर्व निर्धारित नियमों का स्वीकार कहते हुए भी उसका दासत्व स्वीकार नहीं किया। वह लेखक - आलोचक को कुछ हद तक स्वतंत्रता देने का पक्षधर है। वह कृति की आलोचना में युग-परिवेश का अध्ययन आवश्यक मानता है।

कुल मिलाकर शास्त्रवादी और नवशास्त्रवादी साहित्यकारों ने साहित्य का मुख्य प्रयोजन शिक्षा - सुख को माना है। भाषा के प्रति इनका दृष्टिकोण इसी काव्य प्रयोजन की सफलता पर निर्धारित है। शास्त्रवादियों ने इस बात का बराबर ध्यान रखा है कि वह जिन विचार-भाव को कृति के माध्यम से प्रस्तुत करना चाहते थे उसे भाषा सफल रूप से अभिव्यक्त कर रही है या नहीं। साहित्यकारों द्वारा काव्य-भाषा में शब्द-चयन संबंधी विविध विचार इसी का उदाहरण प्रस्तुत करता है। अपने इसी उद्देश्य की पूर्णता के लिए उन्होंने भाषा संबंधित नियम बनाये और सचेत होकर उसके पालन किए जाने पर बल दिया। नवशास्त्रवाद ने इन नियमों का सैनिक प्रशासन की तरह और सख्ती से निर्वाह किया। इसका स्वच्छंदतावाद में कड़ा विरोध हुआ।

1.3.3.2 स्वच्छंदतावाद

स्वच्छंदतावाद शास्त्रवाद और नवशास्त्रवाद द्वारा साहित्य पर लगाये गए कठोर नियमों का अस्वीकार करता है। शास्त्रवादियों द्वारा प्रभूत जिन नियमों से साहित्य जड़ता का अनुभव कर रहा था उसे स्वच्छंदतावाद ने तोड़कर स्वतंत्र कर दिया। स्वच्छंदतावाद ने व्यक्ति और साहित्य दोनों के स्वातंत्र्य की हिमायत की। वस्तुतः साहित्य के क्षेत्र में स्वच्छंदतावाद का आविर्भाव पूर्ववर्ती शास्त्रवाद और नवशास्त्रवादी व्यवस्था में निहित स्वच्छंदतावादी तत्वों की ही देन है। स्वच्छंदतावाद में काव्य-भाषा की दृष्टि से वर्ड्सवर्थ के विचार सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

लोंगिनुस समय की दृष्टि से शास्त्रवादी था किंतु वैचारिक दृष्टि से वह शास्त्रवादी से अधिक स्वच्छंदतावादी प्रतीत होता है। रोमन आलोचक लोंगिनुस स्वच्छंदतावादी आलोचना का आधारस्तंभ है। लोंगिनुस ने सर्वप्रथम शास्त्रवादियों द्वारा प्रस्तुत भव्य शैली (ग्रांड स्टाईल) के विपरीत अपना भाषा-वैशिष्ट्य संबंधी विचार प्रस्तुत किया। वह उदात्त विषयक अवधारणा प्रस्तुत करते हुए कहता है कि भाषा का वैशिष्ट्य और चरम उत्कर्ष ही उदात्त है। उसका मानना है कि श्रोता पर विशिष्ट भाषा का प्रभाव आत्मातिक्रमण के रूप में दिखाई पड़ता है। यह श्रोता को साधारण स्तर के बुद्धि विलास से ऊपर उठाती है। विशिष्ट भाषा गुणात्मक परिवर्तन उत्पन्न करते हुए श्रोता या पाठक को अभिभूत कर देती है। लोंगिनुस औदात्य-सृजन के लिए अलंकारों के समुचित प्रयोग पर सर्वाधिक बल देता है। वह उदात्त को अभिव्यक्त करने वाली काव्य-भाषा में भी शब्द-चयन और अलंकृत भाषा-प्रयोग (रूपक और अतिशयोक्ति) को आवश्यक मानता है। इसके अतिरिक्त लोंगिनुस ने उदात्त के अवरोधक शैलीगत दोष - वागाडम्बर, शब्दाडम्बर, वालेयता, भावाडम्बर पर विचार करते हुए भाषा के संबंध में चिंतन किया है।

लोंगिनुस श्रेष्ठ साहित्य का मानदंड शिक्षा, आनंद, अनुनय के स्थान पर भावक

के देश-कालातीत आत्मातिक्रमण अथवा आत्मानंद को मानता है। वह उसी रचना को श्रेष्ठ मानता है जो भावक को अभिभूत कर सके। लोंगिनुस श्रेष्ठ रचना का निर्धारण रचना के प्रभाव के आधार पर करते हुए भावक की भूमिका को स्वीकार करता है।

महाकवि विलियम वर्ड्सवर्थ (1770-1850) पाश्चात्य साहित्य-आलोचना में स्वच्छंदतावाद के अग्रदूत बनकर उपस्थित होता है। वह शास्त्रवाद और नव शास्त्रवाद द्वारा निर्धारित श्रेष्ठ काव्य की अवधारणाओं का अस्वीकार करता है। वह श्रेष्ठ काव्य की परख के लिए कृति द्वारा की गई उस 'भावात्मक अपील' को एक मात्र प्रतिमान स्वीकार करता है जो भावक को अभिभूत कर देती है। उसका काव्य-भाषा संबंधी विचार और भी महत्वपूर्ण है। 18वीं शती तक (नवशास्त्रवाद तक) काव्य-भाषा के रूप में बहुप्रचलित, निम्न कोटि के शब्दों अर्थात् रोजमर्रा की भाषा के शब्दों और पारिभाषिक एवं तकनीकी शब्दों का साहित्य में उपयोग करना अनुपयुक्त माना जाता था। वर्ड्सवर्थ ने इस दृष्टिकोण का अस्वीकार किया। उन्होंने सन् 1798 में प्रकाशित 'लिरिकल बेलेड्स' में सामान्य जीवन से चयनित की गई घटनाओं की अभिव्यक्ति जन साधारण की भाषा में प्रयुक्त होने वाले शब्दों के माध्यम से की। वर्ड्सवर्थ ने साहित्य में प्रचलित और साधारण पाठकों को सुपरिचित ऐसे मुहावरों, लोकोक्तियों, अलंकारों, विपर्ययों और काव्योचित प्रयुक्तियों को ही काव्य-भाषा का माध्यम बनाया।

वर्ड्सवर्थ ने गद्य भाषा और पद्य भाषा में कोई तात्विक अंतर न करते हुए, इन्हें एक जैसा ही माना है। यद्यपि वर्ड्सवर्थ का यह विचार प्रश्नों के कठघरे में खड़ा किया गया है। वर्ड्सवर्थ की भावावेगमयी भाषा डॉ. जॉनसन के विचारों के नजदीक लगती है। इन्हीं कारणों से वर्ड्सवर्थ को नवशास्त्रवादी भी माना गया है।

स्वच्छंदतावाद का दूसरे महत्वपूर्ण कवि-आलोचक सेमुअल टेलर कॉलरिज (1772-1834) वर्ड्सवर्थ का करीबी रहने पर भी बाद में उसके भाषा विषयक विचारों का विरोध करता है। कॉलरिज का मानना है कि भाषा व्यक्ति, क्षेत्र और समुदाय के

बदलने के साथ परिवर्तित हो जाती है। ऐसे में वर्ड्सवर्थ का काव्य भाषा संबंधी विचार - काव्य की भाषा जन सामान्य द्वारा प्रयुक्त भाषा का चयनित रूप होती है - का कोई निश्चित रूप निर्धारित नहीं किया जा सकता। इसलिए वह वर्ड्सवर्थ के काव्य भाषा संबंधी विचार उचित नहीं मानता। वर्ड्सवर्थ काव्य भाषा में छंद-हीनता को स्वीकार करता है लेकिन कॉलरिज काव्य भाषा के लिए छंदोबद्धता को अनिवार्य मानता है। वर्ड्सवर्थ का मानना है कि काव्य-भाषा और गद्य-भाषा में कोई तात्विक भेद नहीं है। कॉलरिज काव्य-भाषा और गद्य-भाषा में प्रयुक्त होने वाले शब्द एक जैसे होने की बात को स्वीकार करते हुए भी वह मानता है कि इनमें छंद के प्रयोग के कारण शब्द-विन्यास में बड़ा अंतर आ जाता है। अतः इन दोनों की भाषा एक समान नहीं हो सकती।

कुल मिलाकर साहित्य में शास्त्रवाद ने 'भव्य शैली' युक्त काव्य भाषा का विचार रखा और इसके निर्वाह के लिए कठोर नियम बनाकर ग्रीक और लैटिन भाषा को एक लंबे समय तक साहित्य के उच्च आदर्श के स्थान पर प्रस्थापित किया। शास्त्रवाद के अंतिम चरण में लोंगिनुस ने अपनी विशिष्ट-भाषा के विचार से इसे स्वतंत्र करने की नींव स्वच्छंदतावाद के रूप डाली। साहित्यिक सत्ता का केन्द्र बन चुकी ग्रीक और लैटिन भाषा के स्थान पर दाँते अपनी प्रसिद्ध रचना 'डिवाइन कॉमेडी' के द्वारा देशज भाषा इतालियन को साहित्यिक भाषा के रूप में मान्यता दिलाता है।

इसके बाद नवशास्त्रवादियों ने पुनः शास्त्रवादी नियमों का और कठोरता से पालन करने की बात उठायी और जन साधारण की भाषा-शब्दावली से साहित्य को दूर रखा। भाषा से संबंधित इस जड़ता के विपरीत स्वच्छंदतावाद का प्रादुर्भाव हुआ। वर्ड्सवर्थ ने साहित्य में भाषा की जड़ता के विपरीत अपनी कविताओं में जन साधारण द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली भाषा को चुना। इस प्रकार साहित्य पर अब तक जिस आभिजात्य वर्गीय भाषा का प्रभुत्व था वह स्थान जन साधारण की भाषा को मिला।

संक्षेप में वर्ड्सवर्थ सत्ता में बने रहे लोगों की भाषा को अर्थात् केन्द्र को हाशिए पर स्थित लोगों की भाषा अर्थात् परिधि तक ले जाते हैं।

1.3.4 देरिदा से पूर्व साहित्य में भाषा

देरिदा के पूर्व साहित्य में भाषा की महत्ता प्रतिपादित करने का नींवगत कार्य रूपवाद, संरचनावाद, उत्तर-संरचनावाद ने किया। पाठ को समझने के लिए भाषा पर बल देने वाले इन तीनों वाद का संबंध भाषाविज्ञान से रहा है। इनमें भाषा-संरचना को आधार बनाकर साहित्य की समीक्षा करने पर बल दिया गया है। यही वह जगह है जहाँ से साहित्य को समझने के लिए रचनाकार की विचारधारा के स्थान पर भाषा को महत्व दिया गया। भाषाई तत्वों, भाषा की संरचना को ही कृति या पाठ की समीक्षा का आधार बनाया गया।

1.3.4.1 रूपवाद

रूपवाद एक कलावादी आंदोलन है जिसके पीछे विज्ञान और प्रौद्योगिकी का प्रभाव दिखाई देता है। साहित्य का मूल्यांकन जब इस परिप्रेक्ष्य में होने लगा तब साहित्य को भी विज्ञान की तरह समाज निरपेक्ष मान लिया गया और साहित्य की समीक्षा पूर्णतः भाषा केन्द्रित बन गई। कविता के प्रत्यय की जगह कविता की रूप-रचना पर अधिक बल दिया जाने लगा। रूपवाद में कविता को स्वायत्त संघटना 'एन्टिटी' माना गया है। यह साहित्य-समीक्षा के पूर्व प्रतिमानों का अस्वीकार करता है। कविता को विचार, दर्शन, समाज, काव्य रस और सौंदर्य आदि से मुक्त करते हुए कविता की समीक्षा कला के स्वायत्त नियमों से करने पर बल देता है।

रूपवाद का उद्भव उन्नीसवीं शती के अंतिम चरण में रूस में हुआ था और यह बीसवीं शती तक साहित्य समीक्षा को प्रभावित करता रहा है। रूपवादी समीक्षा सिद्धांत का तोदोरोव द्वारा फ्रेंच में अनुवाद करने से शैली विज्ञान, संरचनावाद जैसी पश्चिमी रूपवादी समीक्षा प्रणालियाँ इससे प्रभावित हुई। रूपवाद के प्रवर्तकों और उन्नायकों में

बोरिस एकेनबाम, विक्टर श्कैलोब्सकी, रोमन जैकोब्सन, बोरिस तोमरस्जेबस्की आदि उल्लेखनीय है। इन रूपवादियों के दो केन्द्र रहे हैं, एक, मास्को जहाँ के सदस्य भाषाविद् थे और दूसरा, पैट्रोगार्ड जहाँ के सदस्य काव्य-समीक्षक थे। (ड. स. मिश्र पृ. 301-2)

रूपवाद में काव्य को भाषा का विशिष्ट चयनित रूप माना गया है। रचना की साहित्यिकता रचनाकार के विशिष्ट भाषा प्रयोग में निहित होती है। इसमें कविता की भाषिक संरचना में निहित विचित्रता या अजनबीपन को खोजा जाता है क्योंकि कविता में दिन-प्रतिदिन की भाषा अपरिचित बनाई जाती है। यही शब्द का अजनबीपन भी है और कविता का नयापन भी।

रूपवाद ने अपनी पूर्ववर्ती दक्षिण-पंथी विचारधारा का अस्वीकार किया जो साहित्य का मूल्यांकन करने के लिए साहित्येतर स्रोतों और अनुशासनों को महत्व देते हुए आलोचक को प्रथम स्थान देने की पक्षधर थी और कृति को दोयम। रूपवाद ने भाषा पर विशेष बल दिया, कृति के भाषिक तत्वों से ही उसके सौंदर्य और संदेश को खोजने पर बल दिया। इस प्रकार रूपवाद ने जहाँ एक तरफ कृति की स्वतंत्र सत्ता की घोषणा की वहीं दूसरी तरफ समीक्षा को पाठ केन्द्रित बनाया।

हिन्दी साहित्य में सातवें-आठवें दशक में रूपवादी समीक्षा सिद्धांत स्वीकृत होता है। हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक डॉ. नामवर सिंह की पुस्तक 'कविता के नये प्रतिमान' पर रूपवाद का प्रभाव दृष्टिगत होता है।

डॉ. सत्यदेव मिश्र (ड. स. मिश्र पृ. 282) के अनुसार रूपवाद ने साहित्य को रचनाकार और रचनागत परिस्थितियों से अलग कर मात्र पाठ पर बल दिया जो कालांतर में 'संरचनावाद' और 'उत्तर-संरचनावाद' का मूल कारक बना। कुल मिलाकर रूपवाद में भाषागत साहित्याध्ययन पर जो बल दिया गया वही भाषा विज्ञान के संरचनावादी सूत्र के रूप में विकसित हुआ और संदेश के उद्देश्य के लिए भाषा के

संरचना के प्रकार्य को समझने के प्रयास शुरू हुए। फर्डीनांड सस्यूर (1857-1913) ने भाषा में 'संरचनावाद' की नींव डाली। यह रूसी रूपवाद के समानांतर आधुनिकतावादी घटना थी।

1.3.4.2 संरचनावाद

प्राग संप्रदाय द्वारा सन् 1942 में कुछ महत्वपूर्ण अवधारणाएँ प्रस्तुत की गई। इससे सस्यूर का शब्दार्थ-सिद्धांत और रूपवाद संयुक्त हुए और आगे चलकर संरचना और प्रकार्य संबंधी अध्ययन की शुरूआत हुई। प्राग संप्रदाय साहित्य का विवेचन-विश्लेषण भाषा-संकेत विज्ञान के अंतर्गत करता है। यहाँ प्रत्येक पाठ को संकेत प्रणाली के रूप में देखा जाता है। इसके बाद सातवें-आठवें दशक में संरचनावाद का फ्रांसीसी प्रतिरूप सामने आया। इसने साहित्य में भाषा की साकल्यता, टोटलिटी पर बल दिया है।

भाषा संबंधी अध्ययन में भाषाविद् सस्यूर का स्थान महत्वपूर्ण है। उन्होंने भाषा से संबंधित परंपरागत समझ से भिन्न संरचनात्मक दृष्टि से भाषा को समझने पर बल दिया। सस्यूर संरचना संबंधी अवधारणा के मूल में भाषा के दो तत्वों का स्वीकार करता है - (1) 'वाक्' जिसे वह परोल (parole) कहता है। यह भाषा का भौतिक और कार्यकारी पक्ष है और (2) 'भाषा' जिसे वह लैंगुइ (langue) कहता है। यह भाषा का मनोवैज्ञानिक पक्ष है। 'भाषा' के नियम वक्ता के मस्तिष्क में अमूर्त और तर्कातीत रूप में होते हैं, वाक् इन नियमों पर आधारित होता है।

सस्यूर भाषा और विचार के संबंध को स्पष्ट करते हुए कहता है कि प्रयोक्ता के विचार भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त होने पर ही मूर्त रूप प्राप्त करते हैं और तभी वह स्पष्ट हो पाते हैं। इससे पूर्व वह आकारहीन व अलक्षित रूप से मस्तिष्क में विद्यमान रहते हैं जहाँ दो विचारों को अलग करना कठिन है। भाषा में विचार और ध्वनियों का योग होता है। इसी से दो आकारहीन पदार्थों के बीच ध्वनि-वैचारिक भाषा

निर्मित होती है। महत्वपूर्ण बात यह है कि यह सब समय के एक ही बिंदु पर घटित होता है। सस्यूर भाषा को कागज़ की तरह कल्पित करता है जिसके एक तरफ विचार और दूसरी तरफ ध्वनि है। यहाँ विचार को काटने से ध्वनि अपने आप कट जायेगी। इस प्रकार विचार को ध्वनि से या ध्वनि को विचार से अलग नहीं किया जा सकता।

सस्यूर के पहले भाषा के अध्ययन की पद्धति ऐतिहासिक थी। इसे डायोक्रॉनिक (काल-विशेष की भाषा अथवा काल-क्रमानुसार भाषा परिवर्तन का अध्ययन) अभिगम कह सकते हैं। इसके विपरीत सस्यूर का अभिगम सिंक्रॉनिक (भाषा को एक संरचना मानते हुए उसका अध्ययन करना जिसके अंतर्गत समय के किसी भी बिन्दु पर भाषा का समग्रता में अध्ययन किया जा सकता है) कहा जाएगा। सस्यूर के भाषा विषयक इस सर्वथा नूतन अभिगम का प्रभाव ज्ञान के कई क्षेत्रों पर पड़ा जिस में लेवीस्ट्रॉस के नृतत्वशास्त्र का भी समावेश होता है। इसके अलावा मुख्य रूप से रोलाँ बार्थ के सिमियोलॉजिकल संबंधी विवेचन पर, देरिदा के साहित्यिक-दार्शनिक विचारों, लुई अल्थूसर जैसे संरचनावादी मार्क्सवादियों के विचारधारा संबंधी विश्लेषण, जैक्स लकान के मनोविश्लेषणात्मक सिद्धांतों तथा नारीवादी जुलिया क्रिस्टेवा के भाषा-विश्लेषण संबंधी अध्ययन पर भी सस्यूर के संरचनावाद का काफी प्रभाव पड़ा। इसके अलावा फ्रेदिनाद कई अन्य अन्तर्दृष्टियों के लिए भी ज़िम्मेदार था जो जड़ों में जाकर विभेदों की पड़ताल करती थीं। उनकी इन अन्तर्दृष्टियों का काफ़ी प्रभाव रहा। तभी सस्यूर को आधुनिक भाषा-विज्ञान का संस्थापक कहा जाता है। (अरगड़े, अंतर्पाठीयता एवं ग्राह्यता)

सस्यूर भाषा को संकेतों की व्यवस्था मानता है। इसे समझाने के लिए उन्होंने तीन महत्वपूर्ण संज्ञाएँ प्रयुक्त की - साईन, सिग्निफायर और सिग्निफाईड। इन्हें हिन्दी में क्रमशः संकेत, संकेतक और संकेतित कहते हैं। संकेत का तात्पर्य है वास्तविक पदार्थ, संकेतक का तात्पर्य शब्द से है और संकेतित का तात्पर्य संकल्पना

से है। उदाहरण के लिए वास्तविक फल संकेत है, फल शब्द संकेतक है और फल की संकल्पना संकेतित है। यद्यपि संकेतक उच्चरित और लिखित दोनों रूप में होते हैं, लेकिन सस्यूर ध्वन्यात्मक संकेतक को अधिक महत्व देता है।

सस्यूर के अनुसार संकेतक और संकेतित के बीच का संबंध यादृच्छिक है। जैसे स्वर-बिंब रूप संकेतक 'फल' से संकेतित होने वाली फल की संकल्पना के बीच कोई प्राकृतिक संबंध नहीं है, यह संबंध अप्राकृतिक या माना हुआ है। इसीलिए अन्य भाषाओं में 'फल' के लिए अलग-अलग शब्दों का प्रयोग होता हैं। किंतु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि प्रयोक्ता अपनी इच्छा अनुसार अर्थ की संकल्पना करें। एक बार किसी वस्तु के लिए कोई शब्द बन गया तो प्रयोक्ता अपने मन से न तो उसे बदल सकता है और न ही नया बना सकता है। इस अर्थ में संकेतक मुक्त नहीं हैं, यह सांस्कृतिक अर्थ में अफर हैं, जो किसी भाषा विशेष को बोलने वाले समुदाय द्वारा निश्चित किए हुए हैं। इसी के माध्यम से वह समुदाय सफल संप्रेषण कर सकता है। शब्द और अर्थ की नियम-रहित परंपरा की संकल्पना भाषाविज्ञान के क्षेत्र में सस्यूर का महत्वपूर्ण योगदान माना जाता है।

सस्यूर संकेतों की इतर-भिन्नता (difference) को महत्व देता है। वह मानता है कि भाषा में केवल भिन्नता ही प्रवर्तित होती है। अतः भाषा में सकारात्मक पद (positive terms) जैसा कुछ नहीं होता। 'फल' स्वर बिंब इस लिए फल है क्योंकि वह 'दल', 'पल', 'तल' नहीं हैं। इसी प्रकार कविता की संकल्पना उपन्यास की संकल्पना से भिन्न है और इसीलिए वह अर्थवान भी है। भाषिक संरचना में प्रवर्तित विचारों की इस प्रकार व्यतिरेकी व्याख्या पर बल देते हुए सस्यूर भाषा-बाह्य निर्देशित होने वाली वस्तु की अवहेलना करता है। यद्यपि इसका अर्थ यह नहीं है कि विचार और उसके आधार स्वरूप बाह्य वस्तुओं के बीच कोई संबंध ही नहीं है या उन वस्तुओं का अस्तित्व ही न हो। जैसे कि 'फल' का विचार हमारी वास्तविक क्षुधा को संतुष्ट नहीं

कर सकता।

संरचनावाद के प्रवर्तकों और उन्नायकों में फर्डीनांड सस्यूर, मुकारोवस्की, रोमन जैकोब्सन के अलावा क्लॉड स्ट्रास, रोलाँ बार्थ, फूको, अल्थूसर, लकाँ आदि प्रमुख हैं। रोलाँ बार्थ संस्कृति की संरचना को भाषा की संरचना की तरह मानता है और संस्कृतिमूलक संकेत चुनकर संरचनागत अध्ययन का मार्ग प्रशस्त करता है। बार्थ साहित्य निर्माण में निहित पाँच नियमों - व्याख्या, चिह्न संहिता (सेमिक कोड), प्रतीकात्मकता, क्रिया-व्यापार संहिता, सांस्कृतिकता की बात करते हुए अन्तरपाठीयता को जन्म देता है।

1.3.4.3 उत्तर-संरचनावाद

उत्तर-संरचनावाद संरचनावाद के आगे की अवधारणा है। इन्हें एक-दूसरे से अलग करके नहीं देखा जा सकता। उत्तर-संरचनावाद का विकास फ्रांस में सातवें दशक में हुआ। यह उत्तर औद्योगिक युग की उपज है। यह विखंडन पर बल देता है। देरिदा की सन् 1967 में प्रकाशित 'स्पीच एण्ड फिनोमिना', 'राइटिंग एण्ड डिफरेंस' तथा 'ऑफ ग्रामेटोलोजी' जैसी रचनाओं से उत्तर-संरचनावाद की स्थापना होती है। देरिदा के अलावा उत्तर-संरचनावाद को विकसित करने वाले अन्य चिंतक हैं - जॉन लाँका, रोला बार्थ, जूलिया क्रिस्टेवा और मिशेल फूको। उत्तर-संरचनावाद के मूल में सस्यूर के विचार ही हैं। सस्यूर ने भाषा कैसे निर्मित होती है, कैसे बोली जाती है और कैसे उसको ग्रहण किया जाता है - इस पर व्यापक चिंतन किया है। सस्यूर वाक-परिपथ (स्पीच सरकीट) के द्वारा अपनी बात स्पष्ट करता है।

वाक-परिपथ के एक छोर पर वक्ता है जिसके मस्तिष्क में भाव या विचार अमूर्त रूप में उपस्थित है। इसे ध्वनि प्रतीकों के माध्यम से वह मूर्त रूप में अभिव्यक्त करता है और ध्वनि तरंगों के माध्यम से वह अभिव्यक्तियाँ श्रोता या ग्रहीता तक पहुँचती है। यह प्रक्रिया क्रमशः मनोवैज्ञानिक, शरीर वैज्ञानिक और

भौतिकी के स्तर पर घटित होती है। वाक-परिपथ के दूसरे छोर पर श्रोता या ग्रहीता है। ग्रहीता वक्ता के भाव, विचार आदि को कर्णेन्द्रीय द्वारा प्राप्त करता है। इससे उसके मस्तिष्क में निर्मित बिंब (इमेज) द्वारा वह उसे समझता है, ग्रहण करता है। यह क्रमशः शरीर वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक स्तर पर घटित होता है। संदेश प्राप्त करने के पश्चात् श्रोता या ग्रहीता इसी प्रक्रिया द्वारा प्रतिक्रिया करता है।

वाक-परिपथ की बात करते हुए सस्यूर स्वयं प्रश्न उठाता है कि भाषा कैसे निर्मित होती है? इसका वह स्वयं ही उत्तर देते हुए भाषा को एक सामाजिक तथ्य मानता है। भाषा किसी निश्चित समुदाय के व्यक्तियों के बोलने-समझने और भाषिक अनुशासनों की निर्मिति होती है। भाषा व्यक्ति या वक्ता के बोलने में अस्तित्व ग्रहण नहीं करती, वरन् समूह या समुदाय के बोलने के प्रयासों द्वारा निर्मित होती है। भाषा किसी व्यक्ति के प्रकार्य में निहित नहीं होती। न तो व्यक्ति भाषा को बना सकता है और न ही उसमें कोई परिवर्तन कर सकता है। (ड. स. मिश्र पृ. 286)

सस्यूर के अनुसार शब्दों और वस्तुओं के बीच का संबंध स्वाभाविक न होकर यादृच्छिक है जो परंपरा से चला आ रहा है। इसका एक अर्थ यह होता है कि जो पदार्थगत यथार्थ है वह भाषा से बाहर है। अर्थात् व्यक्ति की संसार के प्रति जो समझ है वह भाषा के माध्यम से निर्मित होती है या व्यक्ति भाषा के माध्यम से संसार का बोध करता है। सस्यूर का यह भी कथन है कि भाषा प्रतीकों की एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें सभी प्रतीक परस्पर संबद्ध है। अलग रहने पर किसी प्रतीक का कोई अर्थ नहीं है। सभी शब्द-चिह्न एक-दूसरे से भिन्न है और फिर भी आपसी अंतर से अर्थ ग्रहण करते हैं।

देरिदा सस्यूर के भाषा प्रणाली में संकेतों की भिन्नता के विचार का स्वीकार करता है, लेकिन वह सस्यूर की तरह एक बिंदु पर आकर रुक नहीं जाता, वह इस भिन्नता की प्रक्रिया को अनंत मानता है। वह कहता है कि प्रत्येक संकेत भिन्नता की

अनंत शृंखला से बना है। वह एक संकेतक का एक संकेतित की सीमेट्रिकल यूनिटी की धारणा को खंडित करता है।

सस्यूर के अनुसार भाषा में जिस प्रकार कुछ प्रस्तुत होता है उसी प्रकार कुछ अप्रस्तुत भी रहता है। इस अप्रस्तुत या अनुपस्थित या अदृश्य को वह भाषा की गहन संरचना कहता है और प्रस्तुत को भाषा की सामान्य संरचना। भाषा की गहन संरचना में निहित अनुपस्थित को खोज निकालने का काम आलोचक को करना है। अनुपस्थित को खोजने की प्रक्रिया 'ट्रेस' कही जाती है। यहीं से विखंडनवाद की शुरूआत होती है।

1.3.5 भाषा के सम्बन्ध में देरिदा के विचार

भाषा के संबंध में देरिदा के विचार प्रमुखतः विखंडनवाद के रूप में सामने आते हैं। देरिदा के भाषा-चिंतन की जड़े सस्यूर के चिंतन से निसृत होती है। एक स्थान बिंदु पर आकर देरिदा सस्यूर के विचार को पलट देता है। देरिदा के भाषा संबंधी विचारों को विखंडनवाद के अध्ययन के द्वारा यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

विखंडनवाद का प्रणेता जॉक देरिदा है। इसे उत्तर-संरचनावाद का हिस्सा माना जाता है क्योंकि यह सस्यूर की अवधारणाओं से आधार ग्रहण करता है। विखंडन के लिए हिन्दी में विनिर्मिति, विरचना और अंग्रेजी में Deconstruction जैसी संज्ञाओं का प्रयोग होता है। देरिदा इसका कोई परंपरागत रूप, दर्शन या पूर्व-निर्मित सिद्धांत नहीं मानते। विखंडन एक प्रकार की भाषायी रणनीति है। यह पाठ का गहन अध्ययन (क्लोज स्टडी) करता है। विखंडन पाठ को नये ढंग से पढ़ने की पद्धति है जो पाठ के पूर्वनिर्धारित अर्थ को विस्थापित कर देता है। इतना ही नहीं यह पाठ के अर्थगत अद्वितीयत्व को विखंडित करके अर्थ के अनंत द्वार खोलता है। देरिदा विखंडन को साहित्य-समीक्षा, दर्शन, नृविज्ञान, इतिहास, मानसशास्त्र आदि मानविकी अनुशासन पर लागू करता है। विखंडन दर्शन के उन सभी मूल स्रोतों को 'विस्थापित' कर देता

है, जिनसे स्वयं उसके दर्शन का विकास हुआ है।

संरचनावाद में देखा गया कि सस्यूर उच्चरित शब्दों पर बल देता है जबकि उत्तर-संरचनावाद में 'लेखन' महत्वपूर्ण हो जाता है। सस्यूर मानता है कि भाषा का बोला हुआ रूप ही जीवंत होता है, लिखित रूप जीवंत नहीं होता। देरिदा सस्यूर के इस विचार को पूर्णतः भ्रामक मानता है। सस्यूर यह भी मानता है कि पाठ की संरचना में दूसरा अर्थ निहित होता है। इसके द्वारा वह लेखन को दोयम दर्जे का स्थान देता है। देरिदा सस्यूर के भाषागत दो भेद भाषा (लैंगुइ) और वाक् (परोल) को नकार देता है। देरिदा के अनुसार लेखन ही भाषा की पूर्व शर्त है। अतः उसे दूसरे दर्जे का नहीं माना जा सकता। लेखन ही अर्थ के नाना आयामों में बदलाव (displacement) लाता है। (ड. स. मिश्र पृ. 288)

देरिदा पाश्चात्य पराभौतिक दर्शन की समग्र अवधारणाओं को अस्वीकार करता है। क्योंकि यह अवधारणाएँ शब्द-केंद्रत्व अर्थात् शब्द के अर्थ की उपस्थिति पर आधारित है। देरिदा इस शब्द-केंद्रत्व का मूल ध्वनि-केंद्रत्व में देखता है जहाँ वक्तृत्व की उपस्थिति को लेखन की उपस्थिति पर वरियता दी गयी है। 'उपस्थिति' से देरिदा का अभिप्राय है वह अनपेक्ष अर्थगत आधार जिस पर कोई भी अवधारणा (अर्थ) अवलंबित है। देरिदा इसे भाषा के तंत्र के उस 'केंद्र' के रूप में भी व्याख्यायित करता है जिस पर शब्द अथवा अवधारणा अर्थवान होती है। देरिदा लेखन की उपस्थिति पर वक्तृत्व की उपस्थिति की वरियता यह कहते हुए नकार देता है कि जब प्रयोक्ता की वाणी निसृत होती है तब उसके मस्तिष्क में लेखन की उपस्थिति पहले से ही मौजूद होती है। देरिदा प्लेटो से लेकर ऑस्टिन तक के विचारकों और भाषा-वैज्ञानिकों के बौद्धिक-दार्शनिक चिंतन का अध्ययन करके उनके द्वारा प्रस्थापित अवधारणाओं को इसी आधार पर वायवीय करार देता है। देरिदा का यह दावा है कि भाषा के लाक्षणिक एवं आलंकारिक तत्व की संरचना ही कुछ इस स्वरूप की है कि दर्शन में अवधारणाओं

को अनपेक्ष अर्थगत आधार उपलब्ध कराना मात्र निरंकुश प्रक्रिया है। (नारंग पृ. 160)

इस प्रकार देरिदा वक्तृत्व / लेखन के वरियता क्रम को पूर्व निश्चित अर्थ के स्थान से विस्थापित कर देता है। किंतु इन पदबंधों को श्रेणीगत वरियता क्रम में प्रवर्तित करने के बाद यह भी देखना पड़ेगा कि इससे कोई नया द्विचर क्रम तो अस्तित्व में नहीं आ रहा है न। यदि ऐसा होता है तो वह अधूरी विरचना होगी। वस्तुतः अर्थ का कोई केन्द्र कहीं नहीं है। गोपीचंद नारंग (पृ. 167) के अनुसार विरचना उस समय आरंभ होती है, जब हम उस क्षण पर पहुँचते हैं, जब कोई पाठ स्वयं उन नियमों का उल्लंघन करने लगता है, जो उसने अपने लिए पहले से स्थापित कर रखें हों। देरिदा कहता है कि इस स्थल पर पाठ विखंडित होना शुरू हो जाता है।

विखंडनवाद के निर्माण के लिए देरिदा नए पारिभाषिक शब्दों को गढ़ता है। देरिदा 'ऑफ ग्रामेटोलॉजी' में विखंडन को विश्लेषित करने के लिए तीन पारिभाषिक शब्दों पर बल देता है : 1) डिफरांस (भिन्नता या विलंबन या स्थगन), 2) ट्रेस (निशान या चिह्न) और 3) आर्क राइटिंग (आद्यलेखन). इनमें पहले दो शब्दों का संबंध साहित्य की भाषा संरचना से है और तीसरे का संबंध अनकहे कथ्य की तलाश से है। पुनः देरिदा द्वारा निर्मित différance शब्द दो शब्दों से बना है : 1) Difference, भिन्नता अर्थात् वह जैसा है उसके जैसा कोई नहीं और 2) Defferment, स्थगन या विलंबन अर्थात् जो पाठ में स्थगित हुआ है वह। भिन्नता स्थान में स्थित है और स्थगन काल में स्थित रहता है। उदाहरण रूप में 'पंक' से 'कमल' का जन्म हुआ है अतः पंकज कहते हैं। लेकिन यहाँ जो पंक है, वह पंकज नहीं है, यह संकेत की भिन्नता है। इस प्रकार संकेत पाठक को पाठ में स्थगित अर्थ की खोज में सक्रिय करते हैं। संकेत में जो है वह, संकेत में जो नहीं है, उस दिशा में ले जाता है। संकेतों का निर्माण इसी तरह भिन्नता-स्थगन और ट्रेस के द्वार होता है। अतः कोई भी शब्द-संकेत न तो किसी शाश्वत वस्तु का संकेतक होता है और न ही किसी मूल्य का

सूचक। चिह्न की अर्थवत्ता संदर्भ में रहती है। यहीं प्रश्न उपस्थित होता है कि जो अनुपस्थित (अर्थ) है उसकी तलाश कैसे की जाए? देरिदा इसका उत्तर देते हुए आद्यलेखन की संकल्पना प्रस्तुत करता है।

देरिदा का कहना है कि आद्यलेखन संकेतक नहीं होता, बल्कि ऐसे चिह्नों (Traces) से संपृक्त होता है, जिनसे अनुपस्थित (अर्थ) की तलाश की जाती है। इन चिह्नों से चित्रलेख (लेखन) में व्यापक अर्थ भर जाता है। यही पाठक या आलोचक की चेतना को गति देता है।.... इस तरह अनुपस्थित लेखन ही आद्य लेखन है और साहित्य आद्य लेखन की अभिव्यक्ति है। (व्यास)

देरिदा अपनी विरचनावादी पद्धति को दोहरी पढ़त भी कहता है, यानी एक पढ़त में वह उन अर्थों से बहस करता है, जो सामान्यतः उस पाठ से अभिप्राय लिए जाते हैं अथवा अभिप्राय लिए जा सकते हैं और दूसरी पढ़त में वह DIFFERANCE और DISSEMINATION को दृष्टिगत करके अर्थ एवं अर्थ के निरसन का वह समाँ पैदा करता है, जिसे देरिदा 'APORIA' कहता है, अर्थात् वह पड़ाव, जहाँ अर्थ का एकत्व लुप्त हो जाता है और अर्थगत अनिश्चयात्मकता पूर्ण रूप से सामने आ जाती है। देरिदा इस बहस से यह निष्कर्ष निकालता है कि भाषा की शब्द-केंद्रत्व से मुक्ति संभव नहीं है। यह अंतर्विरोधों से परिपूर्ण है। (नारंग पृ. 167)

संरचनावादी चिंतन में यह माना गया है कि अर्थ का किसी न किसी प्रकार का एक केन्द्र होता है। यह केन्द्र पाठ के भीतर या बाहर हो सकता है। यह केन्द्र ही पाठ को अपने अधीन रखता है किंतु उस केन्द्र को विवेचन के अधीन नहीं लाया जा सकता। पाठ के केन्द्र को विखंडित करने से पाठ में दबा हुआ या स्थगित किया गया दूसरा अर्थ / विमर्श सामने आता है। इस प्रकार एक विमर्श का अर्थ दूसरे विमर्शों के संदर्भों से निकलता है। फिर दूसरे का तीसरे, तीसरे का चौथे विमर्शों के संदर्भों में से। यह क्रम चलता रहता है और अर्थ के अनंत द्वार खुलते हैं। इतना ही नहीं प्रत्येक

पाठ का अर्थ और पाठक का अनुभव अलग होता है। यही वह बिंदु है जहाँ से अर्थ के दुधारेपन का अनुभव किया जा सकता है। अब पाठ के अर्थ का निर्णायक लेखक न होकर पाठक और उसके पढ़ने की पद्धति है।

देरिदा संरचनावाद के इस विचार बिंदु से सहमत है कि साहित्यिक समीक्षा बाह्य हेतुओं पर आधारित न होकर पाठ से ही अनुस्यूत होती है। पाठ की सत्ता लेखक से स्वतंत्र है। विखंडन में पाठ में निहित विलोमों के सहारे विश्लेषण किया जाता है। जैसे कि विचार या तत्व की उपस्थिति और अनुपस्थिति, दर्शन और साहित्य, वाचन और लेखन, प्रमुख केन्द्र और उप-केन्द्र आदि। उदाहरण रूप पाठ को पुरुषवादी दृष्टि से पढ़ने के स्थान पर उत्तर-संरचनावाद उसे स्त्री-पाठ की तरह पढ़ने पर बल देता है। इसी क्रम में पाठ में निहित कार्य-कारण शृंखला को उलटकर विश्लेषित करने से पता चलता है कि जिस तरह किसी पाठ उभारा गया है उसी प्रकार किसी पाठ को दबाया भी गया है। इस प्रकार पाठ के केन्द्र को विस्थापित करते हुए दबाये गए अर्थात् परिधि पर रखे गए पाठ की तलाश की जाती है। पाठ का उलटफेर करके नये तथ्य सामने लाए जाए जाते हैं।

जब समीक्षक किसी कृति के पाठ को अर्थ देता है तब वह उसका स्वयं का निर्माण है। समीक्षक द्वारा रचना में लेखक अभिप्रेत विचार-पाठ-भाषा को खोजा जाना चाहिए - इस पूर्ववर्ती मान्यता को विखंडनवाद में खंडित किया गया है। इस प्रकार विखंडनवाद रचना और समीक्षा दोनों को समान मानता है। लेखक, समीक्षक और पाठक तीनों को समान महत्व देता है। लेखक की भाषा के ही समकक्ष समीक्षक की भाषा को प्रतिष्ठा देता है।

कुल मिलाकर देरिदा अपने पूर्ववर्ती विचारक प्लेटो, अरस्तू, काण्ट, हीगेल, सस्यूर, नित्शे, हुसेर्ल, फ्रायड, हायडेगर, लेविनास, ऑस्टिन आदि के लेखन का अध्ययन-विश्लेषण करते हुए ऐसे दृष्टि-रोधक बिंदु (blind-spots) प्रस्तुत करता है जो

लेखक के विचार और उनकी स्थापना के विपरीत हैं। देरिदा द्वारा किया गया विरचनात्मक वाचन न केवल पाठ (texts) को प्रतिलोमित करने वाली भाषा-संरचना एवं पद्धति को प्रस्तुत करता है, वरन् अर्थ की अनिश्चितता एवं अर्थ की अनंतता को प्रस्तुत करता है। देरिदा लेखक को अभिप्रेत पाठ की केन्द्रीय वस्तु को उलट देने वाली अभिव्यक्तियों को उजागर करता है। वह पाठ में स्थित उन आत्मघातक प्रस्तुतियों को सामने लाकर हर तरह की केन्द्रीयता को विस्थापित करता है। देरिदा पाठ में विद्यमान भाषा के तंत्र की असाध्य समस्याओं को सामने लाकर लेखन की उपस्थिति के विपरीत वक्तृत्व की उपस्थिति को प्राधान्य देने वाले केन्द्रवादी चिंतन को अस्थिर बना देता है। वह केन्द्र में रही भाषा को परिधि पर रहे समुदाय की भाषा तक ले जाता है। इस तरह देरिदा संकेतविज्ञान के स्थान पर लेखन-विचार (grammatology) को प्रस्तुत करता है और रचना के संरचनात्मक वाचन के स्थान पर विरचनात्मक वाचन को प्रस्तुत करता है।

समग्रतः संस्कृति जो देश की जनता को जोड़ कर रखती है, एक संबल प्रदान करती है वह उत्तर-आधुनिक युग में बहु-संस्कृति तक का सफर तय कर चुकी है। बाज़ार से अनुप्राणित लोकप्रिय संस्कृति प्राचीन सांस्कृतिक मूल्यों के स्थान पर मुनाफा बढ़ाने वाले नियमों का अनुसरण करती है। अब बाज़ार की माँग के अनुसार साहित्य का सर्जन और आपूर्ति हो रही है। इसी प्रकार बाज़ार की आवश्यकता के अनुसार लक्षित समूह (टार्गेट ओडियंस) को ध्यान में रखते हुए अनुवाद कार्य किया जा रहा है। सिद्धांत जो अब तक साहित्य के मूल्यांकन के मापदंड प्रस्तुत करता था, निश्चित नियमों की ओर इंगित करता था और अपनी प्रकृति में एक अंतीय था, उसका स्थान अनेक अंतीय विमर्श ने ले लिया है, जहाँ पर किसी भी प्रकार के नियम आदि निश्चित करना मुश्किल है। जब साहित्य की निश्चितता ही प्रश्नाकिंत हो जाती है तब उससे अर्थ ग्रहण करना और दुष्कर हो जाता है। ऐसी स्थिति में किसी पाठ का

अनुवाद करना अनुवादक के लिए और भी चुनौतीपूर्ण कार्य बन जाता है। भाषा सत्ता के निर्णायक कारक (डिसाइडिंग फ़ैक्टर) के बदलने के साथ ही केन्द्र से परिधि तक का सफर तय कर चुकी है। इससे पूर्व-लिखित सभी प्रकार के पाठ से लेखक का प्रभुत्व समाप्त होता हुआ दिखाई देता है। इतना ही नहीं पाठक अपने संदर्भों से पाठ को अर्थ दे सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी न किसी प्रकार की सत्ता के चलते लेखन पर जिन लोगों ने अब तक अधिकार कर लिया था और स्त्री, दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक, रंगभेद आदि के कारण परिधीय समुदाय को तथागत चीजों से दूर रखा था वे ही अब उन सत्ता केन्द्रों के लेखन को (अपने पक्ष में) पुनर्व्याख्यायित कर रहे हैं।